वेदाध्ययनं निषिद्धम्। यथा मनुष्यप्रायसङ्घर्षे ग्रामे दुर्गन्धादिप्राय-प्रान्तादौ नाध्येतव्यम्। तत्र चेतसो ग्लानिपरत्वान्न सम्यगध्येतुं शक्यते। एवमन्यत्रापि निषिद्धप्रदेशे नाऽध्येतव्यम्। कासु चिद-वस्थासु वेदाध्ययनं प्रतिषिद्धम्। यथोच्छिष्टः, शयानोऽशुचिश्च वेदं न पठेत्। इत्याद्यवस्थास्वधीयानः सुफलं नाप्नोति। तस्मादनध्या-यस्तत्र देशे कालेऽवस्थायां वा कार्य इति। देशादिष्वनुकूलेष्वपि प-र्वसु नैत्यिका अनध्यायाः श्रान्ताया बुद्धेरवकाशदानेन शान्त्यर्थमेव सेवनीयाः। प्रत्यहं सर्वकार्येषु सम्यगेव मनो नैव लगति। तस्मा-त्पर्वस्वनध्यायाः सदैव रक्षणीयाः। पर्वसु वैदिकरीत्या यज्ञस्य नै-मित्तिकविशिष्टविधिरपि गृह्यसूत्रादिषु दृश्यते। तदानीं यजमाना-नामध्येतुं समय एव न भविष्यत्यतो नैमित्तिककार्ये तस्याऽध्ययन-स्यानध्याय एव रक्षणीयः। एवं सर्वेऽनध्यायाः सप्रयोजना एव ॥

केचित्प्रतिपद्यनध्यायमिच्छन्ति तथा चरन्ति च तच्च मानव-धर्मशास्त्राद्विरुद्धम्। तदानीमनध्यायरक्षणं निरर्थकं चतुर्दश्यमावा-स्ययोरनध्यायसत्त्वात्। एवं त्रयोदश्यादावपि निरर्थको धर्मशास्त्र-विरुद्धश्चानध्यायः। अत्रानध्यायप्रसङ्गे मानवधर्मशास्त्रेऽसम्भववि-रुद्धादीनां विचारोऽग्रे प्रक्षिप्तसमीक्षायां भाष्ये वा द्रष्टव्यः। अत्र चैतावतैवालं क्रियते ॥

भाषार्थः—अब पठनपाठनविषयक विचार किया जाता है। इस मानव-धर्मशास्त्र के चौथे अध्याय में ९५ पञ्चानवे श्लोक से ले कर १२७ एक सौ सत्ताईश श्लोक पर्यन्त तेंतीश श्लोकों में अनध्याय का विचार किया गया है। यद्यपि संसार के सब कर्मों में किसी २ समय पर जिस किसी प्रकार अनध्याय होने चाहिये। अर्थात् मनुष्यों के चलाये सभी कर्म किसी २ उत्सवादि समय विशेष में अवश्य रुक जाते हैं। उस समय वा उन दिनों में कर्मचारी लोग छुट्टी पर

समझे जाते हैं। और अनेक अवसरों में वे कर्म परतन्त्रता से मनुष्यों को अवश्य छोड़ने पड़ते हैं। जैसे ईश्वरीय सृष्टि में सूर्य के उदय, अस्त नियमपूर्वक सदा चले जाते उन का निरोध कभी नहीं दीखता क्योंकि उन सूर्यादि का नियामक सर्वज्ञ परमेश्वर है। अर्थात् सर्वज्ञ के चलाये नियम में अनध्याय वा निरोध कभी नहीं दीखता। वैसे मनुष्य के चलाये नियमों में नहीं हो सकता क्योंकि वे अल्पज्ञ हैं। मनुष्य बीच २ में थकने, रोगी होने वा उदासीन होने से काम छोड़ देते हैं उस समय स्वयमेव कार्यों का अनध्याय हो जाता है। जैसे दुर्गन्धरूप प्रान्त में चित्त के व्याकुल होने से मनुष्य को शुभकर्म का आरम्भ नहीं करना चाहिये यह धर्मशास्त्रों में आज्ञा दी गयी है। और अनध्याय करने वा होने का यही प्रयोजन है कि जो उस निकृष्ट देश वा काल वा अवस्था में किया हुआ कर्म अच्छा वा विशेष फल देने वाला नहीं होता इस लिये वैसे अवसर में निषेध किया गया है। तो भी सब कर्मों के रोकने वा अनध्याय का यहां विचार नहीं किया जाता किन्तु पठनपाठन विषयक अनध्याय का विवेक करना प्रारम्भ किया है। अन्य विषयों का यथावसर विचार वा व्याख्यान होगा॥

अधिकांश में तो समय विशेष (कि अमुक २ समय में वेद को न पढ़ना चाहिये) में अनध्याय दिखाये हैं। सो कहीं जैसे उष्णता की अधिकता से ठीक२ पढ़ना नहीं होता किसी प्रकार उस समय के विशेष परिश्रम से उन्मादादि रोगों का होना भी सम्भव है। तथा अन्य भी चित्त को व्याकुल करने और एकाग्रता को बिगाड़ने वाले विघ्न आ जाने पर वेद नहीं पढ़ना चाहिये। क्योंकि उस समय का पढ़ना सुफल नहीं होता। तथा अनेक प्रदेशों में वेद का पढ़ना निषिद्ध है। जैसे जहां मनुष्यों का अधिक सङ्कट्ट हो, ग्राम, नगर, बाजार आदि वा जहां अधिक दुर्गन्ध हो ऐसे प्रान्त आदि में वेद नहीं पढ़ना चाहिये। किन्हीं अवस्थाओं में वेद का पढ़ना निषिद्ध है। जैसे झूठे, सोता हुआ अर्थात् लेट कर वा अशुद्ध, वा मैथुन किये पश्चात् विना स्नान किये वा विना वस्त्र बदले वेद को न पढ़े। इत्यादि अवस्थाओं में पढ़ने वाला अच्छे फल को नहीं पाता। इस लिये उस देश काल और अवस्था में अनध्याय करना चाहिये। देशादि के अनुकूल होने पर भी पर्व अर्थात् अमावास्या, चतुर्दशी और पौर्णमासी तथा अष्टमी को सदा वेद का अनध्याय करे क्योंकि सदैव काम वा पठन आदि का परिश्रम करते २ बुद्धि थक जाती है उस को अवकाश देकर शान्ति करने के लिये

अनध्याय मानने चाहिये । इसी अभिप्राय से सब कार्यालयों में विद्वानों ने नित्य नैमित्तिक अवकाश—छुट्टी—देने का नियम चलाया है कि जिस कारण बुद्धि वा शरीर के स्वस्थ हो जाने से फिर भी ठीक २ काम चलते हैं क्योंकि प्रतिदिन सब कार्यों में ठीक २ मन नहीं लगता है इस लिये पर्वों में सदा ही अनध्याय रखने चाहिजे । और पर्वों में अनध्याय करने का यह भी प्रयोजन है कि उन दिनों में वेदोक्त रीति से मासेष्टि वा पक्षेष्टि आदि यज्ञों का नैमित्तिक विशेष विधान भी गृह्यसूत्रादिकों में दीखता है । तथा प्रायः ऐसे ही पर्व दिनों में पितृयज्ञ नाम तर्पण श्राद्ध का विशेष विधान है अर्थात् उन पर्व दिनों में विशेष देवयज्ञ वा पितृयज्ञ करने के लिये भी पढ़ने पढ़ाने वालों को अनध्याय रखना चाहिये । और जब विशेष यज्ञादि किये जावेंगे तो आप ही अवकाश न मिलने से नैमित्तिक कार्य में उस वेद के पढ़ने का अनध्याय ही रखना पड़ेगा इस प्रकार सब अनध्याय प्रयोजन सहित हैं । और मुख्य कर तो वेद ईश्वरीय विद्या है उस को बड़ी सावधानी और पवित्रतादि के साथ पढ़ना चाहिये जिस से ठीक तात्पर्य समझ में आवे । और जिस २ देश वा काल वा दशा में चित्त के सावधान न रहने से उलटा समझनादि विपरीत वा दुःख होना सम्भव है तब २ अनध्याय कहा गया ॥

कोई लोग प्रतिपदा को अनध्याय मानते वा करते हैं सो मानवधर्मशास्त्र से विरुद्ध है । क्योंकि उस समय अनध्याय रखना इस से व्यर्थ है कि चतुर्दशी अमावास्या वा पूर्णमासी को अनध्याय हो चुका । ऐसे ही त्रयोदशी आदि में भी अनध्याय व्यर्थ है और धर्मशास्त्र से विरुद्ध भी है । इस अनध्याय के प्रसङ्ग में इस ग्रन्थ में जो कोई असम्भव वा विरुद्ध श्लोक होंगे उन का विचार चतुर्थाध्याय के प्रक्षिप्त प्रकरण में वा भाष्य में देखना चाहिये । यहां इतने ही पर समाप्त करते हैं ॥

अथ दानधर्मविवेचनम् ॥

यद्यप्यत्र दानधर्मवैशिष्ट्येन किमपि वक्तव्यं नास्ति । अस्मिन् चतुर्थाध्याये सर्वमुक्तमेव भाष्ये चान्यदपि स्पष्टीभविष्यति । तथापि संक्षेपेण दानस्य सिद्धान्त उच्यते । अस्मिन्नध्याये षडशीत्युत्तरशततमपद्यादारभ्याध्यायपरिसमाप्तेर्दानस्यैव विवेकः प्रदर्शितः ।

दानधर्मे पञ्चाङ्गानि प्राधान्येन सर्वदा परीक्षणीयानि। तद्यथा दाता, प्रतिग्रहीता, देयं वस्तु, दानस्य कालो देशश्च। कीदृशेन दात्राधिकारिणा देयम्। प्रतिग्रहीता कीदृशः स्यादित्यादिप्रकारेण सर्वमुचितमनुचितमालोच्य दात्रा देयम्। तदेव सम्यगुत्तमं दानमस्ति। गुणानां त्रैविध्याद्दानस्य त्रैविध्यमपि प्राप्तम्। तच्च भगवद्गीतासु सप्तदशोऽध्यायउक्तम्॥

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥१॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्॥२॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥३॥

इत्थं त्रिविधं दानम्। तत्र सात्त्विकमेव प्रशस्तं दानं सज्जनैराचरणीयमिति सिद्धान्तः। अकरणान्मन्दकरणं श्रेयइति न्यायाद्दानधर्मस्य कथमपि सेवनं ये न कुर्वन्ति तदपेक्षया मध्यमनिकृष्टदानयोरनुष्ठातारोऽपि प्रशस्ताएव सन्ति। तथापि धर्मशास्त्रेण सात्त्विकमेव दानं विधीयते न तु राजसतामसेइति सिद्धान्तः। एवं सत्यपि यत्रादाताऽऽधिक्येनाधार्मिकस्स दात्रा दत्तं वस्तु समादाय तदाश्रयेणैवाधर्ममाचरति तदा विधिनाप्यर्जितं धनं दीयमानमनर्थकरं भवति तदुक्तं मनुनैव--

त्रिष्वप्येतेषु दत्तं हि विधिनाप्यर्जितं धनम्।
दातुर्भवत्यनर्थाय परत्रादातुरेव च॥ १॥

यथा प्लवेनौपलेन निमज्जत्युदके तरन् ।
तथा निमज्जतोऽधस्तादज्ञौ दातृप्रतीच्छकौ ॥२॥

सिद्धमेतेन यद्राजसतामसे अपि दाने अधर्मिणे नैव दातव्ये ॥

अत्र दानधर्मे दाता प्रशस्तकोटिस्थः प्रतिग्रहीता च निकृष्टत्वमापद्यते येन यस्माद्दानमुपादीयते स तदग्रे लज्जितः शङ्कितश्च जायते यदि च प्रतिग्रहो निकृष्टो न स्यात्तदा लज्जा शङ्का वा न स्यात् । अतएवोक्तम्—प्रतिग्रहः प्रत्यवरः ।

प्रतिग्रहसमर्थोऽपि प्रसङ्गं तत्र वर्जयेत् ।
प्रतिग्रहेण ह्यस्याशु ब्राह्मं तेजः प्रशाम्यति ॥

एवं विचार्य ब्राह्मणेन विदुषा प्रतिग्रहरुचिना न भाव्यम् । दात्रा च दानरुचिना भाव्यम् । एवं सत्येव धर्मशास्त्राणां सम्यग् व्यवस्था भवितुमर्हति । यस्मिन् देशे यस्मिन् काले च दानधर्मस्य सम्यग्धर्मशास्त्रानुकूला प्रवृत्तिर्भवति स देश उन्नतिमापन्न इति वक्तुं शक्यते । यत्र चैतन्नास्ति तत्रावनतिरेव तथाचोक्तम्—

अपूज्या यत्र पूज्यन्ते पूज्यानां च व्यतिक्रमइति ।
अतः सर्वैः सर्वदा दानधर्मः शास्त्रानुकूलतयैव सेव्य इति ॥

इदमत्र तात्पर्य्यम्—यस्मिन् कर्मणि व्ययकरणेन विना स्वसुखस्य विद्याद्यभावेनेतरेषां सर्वसाधारणानां वा हानिर्जायते तत्र तत्र विद्याधर्मादीनां प्रचारहेतुके कर्मणि व्ययकरणं दानमेव । तादृशकर्मसु व्ययमकृत्वा यत्र व्ययकरणं निष्फलं यत्र वा विपरीतफलप्रदं तत्र क्रियमाणं हानिकरमवनतिकरं वा भवति । ये च जगदुपकारका विद्वांसस्तेषां निर्वाहायापि धनादिकं देयम् । येन तेषां कालः स्वनिर्वाहचिन्तायां नैव गच्छेत् किन्तु जगदुपकारचिन्तामेवाहर्निशं

कुर्युरिति । ये चानाथास्तेषामप्यन्नादिदानेन भरणं दानमेव येन वस्तुना विना यस्मिन् काले धर्महानिः प्रतीयते तदानीं तस्य दानमेव श्रेयस्करम् । तथापि विद्यादानं सर्वदानेभ्य उत्तमतममस्ति । अन्यानि च दानानि यथायोग्यं यथाकालं वा प्रधानानि । दानधर्मः सर्वधर्मस्य प्रधानाङ्गम् । श्रीमद्भिस्तु प्रत्यहं निर्विकल्पं सेवनीयः । कुतस्तैः शरीरेण धर्मः कर्तुमशक्यः सुकुमारत्वाद्धनव्यापारे चेतसो बद्धत्वाच्च । एवं मत्वैव महाभारतउद्योगपर्वण्युक्तम्—

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम् ।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥

परत्र दानधर्मस्य यत्फलं तत्त्वस्त्येव किन्तु प्रत्यक्षदशायामपि दानस्य महत्फलमस्ति । प्रायशो दानधर्मसेविनः पुरुषस्य जगति शत्रवो न भवन्त्यपितु मित्राणि वर्द्धन्ते। दानं कुर्वतश्च तदानीं सदैवोत्साहः प्रवर्द्धते चेतः प्रसीदति सन्तुष्यति च । चेतःप्रसादश्च सर्वदुःखविनाशकः सर्वसुखहेतुश्च भवति। तस्माद्धर्मशास्त्रानुकूलमेव दानं सर्वैः सेव्यम् । विशेषो भाष्ये व्याख्यास्यते तत्रैव द्रष्टव्यः । तत्रैव दानस्यानधिकारिणामपि वर्णनं भविष्यति ॥

भाषार्थः—अब दान धर्म का संक्षेप से विवेचन किया जाता है। यद्यपि इस दान धर्म विषय में विशेषता से इस लिये कुछ वक्तव्य नहीं है कि इस चतुर्थ-अध्याय में सब विषय स्पष्ट कर कहा है । और भाष्य में और भी स्पष्ट हो जायगा । तो भी संक्षेप से दान का सिद्धान्त कहा जाता है । इस चौथे अध्याय में छयाशी श्लोक से ले कर अध्याय की समाप्ति पर्यन्त दान का ही विवेचन किया है। दान धर्म में पांच अवयवों की मुख्य कर परीक्षा करनी चाहिये । दान देने तथा लेने वाला, जिस वस्तु का दान दिया जाय वह तीसरा चौथा दान का समय और पांचवें दान का देश कि किस प्रान्त में दान करना उपयोगी वा अनुपयोगी है। कैसे दाता को दान देना चाहिये किस को दान देने का अधिकार

है । और दान लेने वाला कैसा हो इत्यादि प्रकार से दाता को उचित अनुचित का विचार कर दान करना चाहिये । वही सम्यक् उत्तम दान है । गुणों के तीन भेद होने से दान भी तीन प्रकार का है सो भगवद्गीता के सत्रहवें अध्याय में कहा है कि "वेदादि शास्त्रों में दान देना लिखा है इस कारण शास्त्र की आज्ञानुसार दान देना चाहिये किन्तु यह न विचारा जाय कि इस से मुझ को फल मिलेगा वा नहीं किन्तु निष्कारण अपना कर्त्तव्य समझ कर जो दान ऐसे पुरुष को दिया जाता है जिससे अपना कुछ भी कार्य सिद्ध नहीं होता । तथा जिस दान में देने योग्य देश काल और सुपात्र का विचार कर लिया जावे वह दान सात्त्विक अर्थात् सत्त्वगुण सम्बन्धी होने से सर्वोत्तम है ॥१॥ और जो प्रत्युपकार होने के लिये कि जिस को हम दान देते हैं उस से हमारा अमुक काम निकलेगा वा मुझ को इस दान से अमुक फल मिले गा इस लिये दान देना चाहिये । इस प्रकार किसी प्रकार के दबाव, परवशता वा लोकलज्जादि के कारण अपने पर भार समझ कर दिया जाता है वह दान रजोगुणसम्बन्धी मध्यम समझा जाता है ॥२॥ तथा जो देश काल का विचार न करके वा विरुद्ध देश काल में (कि जहां दान करने से उलटा फल होना सम्भव है) कुपात्रों को दान दिया जाता है कि जिस में दान लेने वाले का अनादर वा अपमान भी हो वह तमोगुण सम्बन्धी सब से नीच है" इस उक्त रीति से तीन प्रकार का दान है । उस में सत्त्वगुणसम्बन्धी सब से श्रेष्ठ दान है उसी का आचरण वा सेवन सज्जनों को करना चाहिये यही सिद्धान्त है । "न करने से कुछ करना भी अच्छा है" इस जनश्रुति—कहावत के अनुसार जो लोग किसी प्रकार कुछ भी दान नहीं देते उन की अपेक्षा मध्यम निकृष्ट दानों के सेवन करने अर्थात् मध्यम वा निकृष्ट प्रकार से दान देने वाले भी उत्तम ही हैं । तो भी धर्मशास्त्र में सत्त्व-गुणसम्बन्धी दान का विधान किया है किन्तु रजोगुण तमोगुण सम्बन्धी का नहीं यही सिद्धान्त है । यद्यपि यह पूर्वोक्त सिद्धान्त ठीक है तो भी जहां दान लेने वाला अधिकता से अधर्मी है कि वह दाता के दिये वस्तु को ले कर उसी के आश्रय से अधर्म करता है तो वहां धर्मानुकूल संचित किये धन का दान भी अनर्थकारी अर्थात् पुण्य के बदले पाप कराने वाला होता है । सो मनुस्मृति के इसी चतुर्थाध्याय में कहा है कि "वैडालव्रतिक अर्थात् मूषक को पकड़ने के लिये बिलाई कीसी दृष्टि रखने वाला कि अवसर पा कर झट दूसरों के माल को

मार लेवे इत्यादि दुर्गुणयुक्त तीनों प्रकार के मनुष्यों को धर्मानुकूल उपार्जन किये धन का भी दान दाता के लिये पाप का हेतु होता है। और जन्मान्तर में दान लेने वाला भी पापभागी होता है। जैसे पत्थर की नौका पर चढ़ के जल में तरने वाला पत्थर के साथ ही डूब जाता है वैसे ही उस दान के सहित दुष्ट को दान देने वाला और दान लेने वाला दोनों दुःखसागर डूबते हैं" इस उक्त लेख से सिद्ध हुआ कि रजोगुण तमोगुणसम्बन्धी दान भी अधर्मी को नहीं देना चाहिये॥

इस दान धर्म के प्रसङ्ग में दाता प्रशस्त कोटि में और दान लेने वाला निकृष्ट कोटिस्थ समझा जाता है इसी कारण जो पुरुष जिस दाता से दान लेता है वह उस के सामने लज्जित शङ्कित वा दबा हुआ रहता है। यदि दान लेना नीच काम न होता तो लज्जा वा शङ्का भी न होती इसी लिये इस मानवधर्म शास्त्र में कहा है कि "दान लेना अच्छा नहीं" तथा "दान लेने में समर्थ अर्थात् विद्वान् वा धर्मात्मा दान लेने का अधिकारी हो कर भी दान लेने का प्रसङ्ग न आने देवे क्यों कि दान लेने से विद्वान् का विद्या सम्बन्धी तेज घट जाता है" ऐसा विचार कर विद्वान् ब्राह्मण को भी दान लेने की इच्छा न रखनी चाहिये। दान लेने की इच्छा वा रुचि रखने वाला विद्वान् ठीक धर्मात्मा कदापि नहीं रह सकता इसी लिये इस का निषेध है। परन्तु दाता को सदा ही दान देने की रुचि रखनी चाहिये अर्थात् दाता का यही मुख्य धर्म है कि वह सुपात्रों को दान देने की सदा इच्छा बढ़ाता रहै और दान लेने वाले सदा बचते रहें। ऐसा होने पर ही धर्मशास्त्रों की ठीक व्यवस्था हो सकती है। जिस देश और काल में धर्मशास्त्रों के अनुकूल दान धर्म की सम्यक् प्रवृत्ति होती है वह देश उन्नति को प्राप्त हुआ ऐसा कहा जाता है। और जिस देश में ऐसा नहीं होता वहां अवनति ही बनी रहती है। सो कहा भी है कि "जहां अ-पूज्य वा अयोग्यों की पूजा वा सत्कार होता और योग्य विद्वानों का सत्कार नहीं होता उस देश की दुर्दशा ही होती है" इस लिये सब को सब समय में शास्त्र के अनुकूल ही दान धर्म का सेवन करना चाहिये॥

इस दान धर्म विषय में तात्पर्य यह है कि जिस कर्म में व्यय किये विना अपने सुख और विद्यादि का प्रचार न होने से अन्य सर्वसाधारण मनुष्यों की हानि होती है उस २ विद्या वा धर्मादि के प्रचार कराने वाले कर्म में व्यय

करना मुख्य कर दान ही है। वैसे उक्त कामों में व्यय न कर के जिस काम में व्यय करना निष्फल है अथवा जहां विरुद्ध फल देने वाला है वहां का व्यय करना हानि वा देश की अवनति कारक होता है। और जो जगत् के उपकारक विद्वान् लोग हैं उन के निर्वाहार्थ भी धनादि वस्तु देने चाहिये जिससे उन लोगों का समय अपने निर्वाह की चिन्ता में न जावे किन्तु वे लोग दिन रात जगत् के उपकार की चिन्ता में ही लगे रहें। और जो अनाथ वा अशक्त मनुष्य हैं उन का अन्नादि दान से भरण पोषण करना दान धर्म ही है। जिस वस्तु के विना जिस काल में धर्म की हानि प्रतीत होती है उस वस्तु का उस समय देना ही बड़ा कल्याणकारी है। तथा विद्यादान सब दानों में उत्तम है। अन्य दानधर्म यथाकाल वा यथायोग्य उत्तम मध्यम समझे जाते हैं॥

यदि किसी प्रकार विद्वान् धर्मात्मा लोगों का दान लिये विना कार्य नहीं चलता वा लेना अवश्य पड़ता है तो जिन के यहां अधर्म वा अनेकों को पीड़ा पहुंचा कर धन आता हो वा जो अत्यन्त नीच प्रकृति लोग हों उन से दान न लेवें क्योंकि ऐसों से लेना पाप है। परन्तु दुष्ट नीच प्रकृति अधर्मी और कुटिलों से भी धन लेकर अपने उपयोग में न लगावे और सर्व साधारण के उपयोगी यज्ञादि काम में लगा देवे तो दान लेने वाले को पाप नहीं किन्तु पुण्य ही है।

और कर्म काण्ड कराने अर्थात् विवाह यज्ञोपवीतादि संस्कार कराने वाले को वा यज्ञादि कराने वाले को जो दक्षिणा दी जाती है वह दान के अन्तर्गत नहीं गिनी जायगी क्योंकि वह परिश्रम का बदला [महनताना] है उसका लेने वाला भी वैसा निकृष्ट नहीं समझा जाता किन्तु दान वही है जिससे अपना कुछ भी उपकार न हुआ हो उसको धर्म बुद्धि से दिया जावे। धर्म के सब अंशों में दानधर्म प्रधान अवयव है। श्रीमानों को तो प्रतिदिन निस्सन्देह दानधर्म का सेवन करना चाहिये क्योंकि वे लोग शरीर से धर्मका सेवन नहीं कर सकते अर्थात् धनी लोग प्रायः सुकुमार होते और धन के लेन देन आदि व्यापार में उन का चित्त बंधा रहता है। ऐसा मान कर ही महाभारत के उद्योग पर्व में कहा है कि "दो पुरुषों को गले में पत्थर की शिला बांध कर जल में डुबा देना चाहिये एक तो धनी हो कर जो दान नहीं करता द्वितीय दरिद्र हो कर जो शरीर से तप नहीं करता" जन्मान्तर में दान धर्म का जो फल है वह तो है ही किन्तु प्रत्यक्ष दशा में भी दान का बड़ा फल है। प्रायः जो दान धर्म का सेवन करने

वाला है उस पुरुष के जगत् में शत्रु नहीं होते किन्तु मित्र सदा बढ़ते हैं । और दान करते हुए मनुष्य का सदा उत्साह बढ़ता चित्त प्रसन्न वा सन्तुष्ट होता है और चित्त के प्रसन्न होने से सब दुःखों का विनाश और सब सुखों की प्राप्ति होती है । इससे धर्मशास्त्र के अनुकूल सब को दान का सेवन करना चाहिये। भाष्य में विशेष व्याख्यान होगा वहीं देखना चाहिये । तथा वहीं दान के अनधिकारी भी गिनाये जांयगे ॥

अथ पूजोपासनाविषये मूर्त्तिपूजाविचारः ॥

अस्मिन् मानवधर्मशास्त्रे सावित्र्या जपस्य सर्वथा प्राधान्यं प्रदर्शितम् । तत्र च जगत्स्रष्टा परमात्मैवोपास्यत्वेनोपदिष्टो नैव काचित्पाषाणादिजन्या मूर्त्तिरुपास्यत्वेन विहितास्ति । एतदेवोपासनं योगशास्त्रानुकूलमस्ति तच्चोक्तम्—तज्जपस्तदर्थभावनम् । ओङ्कारस्य तद्युक्तायाः सावित्र्या वा जपस्तदर्थस्य परमात्मनो भावनं मुहुर्मुहुश्चेतसि निवेशनं तद्गुणानुसन्धानं चोपासनम् । अन्यत्रापि मानवधर्मशास्त्रे यत्र यत्रोपासनाप्रसङ्गस्तत्रतत्र वेदमन्त्रैरेवास्ति । एवं मत्वैवाग्निहोत्रेऽपि प्रधानतया परमात्मैव वेदमन्त्रैरुपस्थानसंज्ञकैः स्तूयते । देवः परमात्मा इज्यते पूज्यते यत्र येन वा कर्मणा तदग्निहोत्रं कर्म देवयज्ञ इति नाम्ना ख्यातम् । उपासनाप्रसङ्गे देवशब्दः परमात्मनो वाचक इति सिद्धान्तः । द्वादशेऽध्याये मनुनाप्युक्तम् । आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम् ॥ अर्थाद्यत्र२ देवतापदेनोपासनमुच्यते तत्र तत्रात्मनएवोपासनं विज्ञातव्यम् । अतएव देवताभ्यर्चनमित्यादिवाक्यैः परमात्मन एव वेदमन्त्रैरुपासनमित्यपि सिद्धं भवति । प्रातरुपासनायामन्यदप्युक्तम्—

ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत् ।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्त्वार्थमेव च ॥

अत्र वेदतत्त्वार्थपदेन परमात्मनएव प्रातरुपासनं विधीयते नैव पाषाणादिनिर्मितप्रतिमायाः । तथा प्रामाणिकपुरुषैरङ्गीकृतेषु व्याकरणकोषादिनिबन्धेषु देवशब्दः क्वापि पाषाणादिमयमूर्तेर्वाचको नोपलभ्यते तेनापि कारणेन पाषाणपूजनं मानवधर्मशास्त्रविहितं नास्ति। न च क्वाप्यस्मिन् ग्रन्थे पाषाणादिजन्यप्रतिमानां परमात्मबुद्ध्या पूजनं कार्यमिति विहितम् । देवशब्देन च पूजनं परमात्मन एवास्ति । एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा इत्याद्युपनिषद्वाक्यैश्च सिद्धं यदुपासनप्रसङ्गे देवशब्दः परमात्मन एव वाचकः । तेन मानवधर्मशास्त्रेऽपि निराकारनिर्विकारनित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य सच्चिदानन्दरूपस्यैव परमात्मन उपासनं विधीयते नैव मूर्त्यादीनामिति सिद्धान्तः ॥

भाषार्थः—अब पूजा वा उपासना विषय में मूर्त्तिपूजा का विचार किया जाता है । इस मानवधर्मशास्त्र में सावित्री (तत्सवि०) मन्त्र के जप की सब प्रकार प्रधानता दिखायी है उस मन्त्र में सब जगत् का रचने वाला परमेश्वर ही उपासना के योग्य बतलाया गया है । किन्तु कोई पत्थर आदि की मूर्त्ति उपासना के योग्य नहीं ठहराई गयी इसी प्रकार की उपासना वेद और योगशास्त्र के अनुकूल है वेद में लिखा है कि तू एक असहाय अनुपम आदि विशेषण युक्त है ऐसी हम उपासना करते हैं । तथा योगशास्त्र में लिखा है कि ओङ्कार वा ओङ्कारयुक्त गायत्री का वाणी वा मन से जप करना तथा उस के वाच्यार्थ परमात्मा का अपने चित्त में बार २ विचार और ध्यान तथा उस के गुणों का चिन्तन करना उपासना है मानवधर्मशास्त्र के अन्य स्थलों में भी जहां२ उपासना का प्रकरण है वहां २ वेदमन्त्रों के साथ ही प्रतीत होता है । ऐसा मान कर ही अग्निहोत्र में भी उपस्थानसंज्ञक वेदमन्त्रों से मुख्य कर परमात्मा की ही स्तुति की है । जिस कर्म में वा जिस कर्म से देवनाम परमेश्वर की पूजा होती है वह अग्निहोत्रकर्म देवयज्ञ कहाता है । अर्थात् उपासना प्रसङ्ग में देवशब्द परमेश्वर का वाचक है यही सिद्धान्त जानो । बारहवें अध्याय में मनु

ने भी कहा है कि सर्वव्याप्त परमेश्वर का ही नाम देव है अर्थात् जितने देव के अवान्तर भेद आते हैं वे सब आत्मा के नाम हैं और उसी एक में सब संसार ठहरा हुआ है। इस से जहां २ देवता पद से उपासना कही जाती है वहां २ आत्मा की ही उपासना जाननी चाहिये। इसी कारण "देवताभ्यर्चनम्" इत्यादि वाक्यों से परमेश्वर की ही उपासना वेदमन्त्रों द्वारा सिद्ध होती है। प्रातः-काल की उपासना में और भी कहा है कि प्रातः कुछ अन्धेरे ही उठ कर वेद के तत्त्वार्थ [कि मुख्य कर वेद में जिस का व्याख्यान है उस] परमात्मा का चिन्तन करे। यहां वेद शब्द के साथ रहने से पौराणिक पाषाणादि मूर्त्तियों का चिन्तन नहीं आ सकता। तथा प्रामाणिक सज्जन विद्वानों के माने हुए व्याकरण कोषादि ग्रन्थों में पाषाणादि मूर्त्तियों का वाचक देवशब्द कहीं नहीं मिलता। इस कारण से भी पत्थर आदि की जड़ मूर्त्तियों का पूजन मानवधर्मशास्त्र के अनुकूल विहित नहीं है। और न कहीं इस ग्रन्थ में पत्थर आदि जड़ से बनी प्रतिमाओं की परमात्मा बुद्धि से पूजा करनी चाहिये ऐसी आज्ञा है। और देव शब्द से परमेश्वर का ही पूजन माना गया है "सर्वान्तर्यामी सर्वव्याप्त एक देव—परमेश्वर सब प्राणियों में गुप्त हो रहा है" इत्यादि उपनिषद् के वाक्यों से भी सिद्ध है कि जो उपासना प्रसङ्ग में देवशब्द परमात्मा का ही वाचक है। इस से मानवधर्मशास्त्र में भी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्तस्वभाव, निराकार, निर्विकार, और सच्चित्, आनन्दस्वरूप, परमात्मा की ही उपासना का विधान किया गया है किन्तु मूर्त्ति आदि की पूजा का नहीं यही सिद्धान्त है॥

अथ चतुर्थाध्यायस्थप्रक्षिप्तश्लोकसमीक्षणम्॥

सप्तविंशतिपद्यादष्टाविंशतिपद्यावधि द्वे पद्ये प्रक्षिप्ते स्तः। अत्र षड्विंशः श्लोकः पञ्चविंशस्थविधेः शेषप्रतिपादकः। विधिशेषो विधिवाक्येनैव गृहीतो भविष्यति। तत्र षड्विंशतिपद्ये पशुनेति पशुविकारभूतेन घृतादिनैव प्रधानतया जुहुयादिति विधीयते। यदि कश्चित्पशुसंभूतेन मांसेन जुहुयादिति कल्पयेत्तत्रापि पशुसंभूतकल्पनं समानमेव, नास्ति कश्चिद्विशेषहेतुर्यत्पशुसम्भूतं मांसमेव ग्राह्यं

न दुग्धघृतादिकमिति। मांसं च प्राणवियोगानुकूलव्यापाररूपा हिंसा स्यात्तदैव सम्भविष्यति। हिंसायां च पापमेवास्ति। विद्यमाने च पशौ तत्सम्भवेन घृतादिना पुनरपि यागः कर्तुं शक्यते यदि च हत्वा मांसहोमः करिष्यते पशुस्तदानीमेव समाप्तः पुनर्भाविनो दुग्धादि-लाभस्यापि नाश एव। मांसे च दह्यमाने दुर्गन्धिरेव निस्सरिष्यति। घृतेन च सुगन्धिरेव भविष्यति। तस्मात्पशुशब्देन पशुसम्भवं घृता-दिकमुपादेयम्। यदि लाक्षणिकार्थो न स्यात्तदा पशुनेति तृतीया-र्थयोजनमशक्यम्। नहि जीवन्नेव सावयवः पशुरग्नौ होतुं शक्यते तस्मादुक्तार्थ एव साधुरिति। सप्तविंशत्यष्टाविंशतितमे पद्ये चार्थवा-दरूपे। सचार्थवादो नैव शास्त्रानुकूलो युज्यते। यदा च वेदे सा-क्षादेवोक्तम् "यजमानस्य पशून्पाहि" अस्यायमाशयः–यजमानस्य यज्ञमनुतिष्ठतः पुरुषस्य पशवो गवादयो न केनापि हन्तव्याः किन्तु यजमानसम्बधिनां पशूनां यज्ञार्थमेव रक्षा कार्या। यदि च यजमा-नानां गवादयो नष्टा भविष्यन्ति तर्हि दुग्धघृताद्यभावेन यज्ञस्यैव हानिः स्यात्। एवं सति पशुमांसादिना ये होतुमिच्छन्ति ते वेद-विरोधिनः। तथैवोक्तश्लोकावपि मांसहोमस्तावकाविति कृत्वा वेदवि-रुद्धौ शिष्टैर्नाङ्गीकार्यौ स्तः। अष्टाविंशतिपद्यस्योपरि षष्ठस्य रामच-न्द्रस्य भाष्यं च नोपलभ्यते तेनापि कारणेन तस्य प्रक्षिप्तत्वमनुमीयते यत्पुस्तकमादाय रामचन्द्रेण भाष्यं निर्मितं तत्र तन्नासीदिति ॥

अग्रे षडशीतिपद्यादारभ्यैकनवत्यवधि षट् प्रक्षिप्तानि। इमेऽ-पि श्लोका असम्भवार्थवादरूपा एव सन्ति। यद्यपि पञ्चाशीति पद्ये योऽर्थवादस्तत्रापि कथञ्चिदत्युक्तिः प्रतीयते तथापि तस्य भयानक-त्वमनुमीयते। अत्रोच्छास्त्रवर्त्तिनोऽराजन्यप्रसूतस्य च दानं विदुषा न

ग्राह्यं तस्य ग्रहणं पञ्चाशीति पद्योक्तप्रकारेण दूषितमित्येव सुवचम्। अराजन्यप्रसूतस्योच्छास्त्रवर्त्तिराज्ञश्च दानस्य प्रतिग्रहीता क्रमेणैकविंशतिनरकानाप्नुयादिति सर्वथाऽसम्भवम्। एकादशाध्याये प्रायश्चित्तप्रसङ्गे महापातकान्युपपातकानि च परिगणितानि तत्र ब्रह्महत्यादिमहापातकानामेव नरकप्राप्तिः फलमुक्तम्। यद्यथा—

बहून् वर्षगणान् घोरान् नरकान् प्राप्य तत्क्षयात्।
संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान्॥

महापातकान्येव च सर्वपापेषु प्रधानानि तेषामेव प्रधानेन दुःखमयेन नरकगमनफलेन भाव्यम्। यदि च प्रतिग्रहस्य नरकं फलं तर्हि महापातकानां ततोऽधिकतरं किं दुःखफलं स्यात्?। अतएव निन्दितप्रतिग्रहस्य नरकफलाभिधानमसङ्गतम्। तथा च निन्दितप्रतिग्रह उपपातकेष्वपि नैव परिगणितोऽस्ति किन्तुः—

निन्दितेभ्यो धनादानं वाणिज्यं शूद्रसेवनम्।
अपात्रीकरणं ज्ञेयमसत्यस्य च भाषणम्॥११।६१॥

अस्य च फलं तेन स्वयमेवाग्रेऽभिहितम्। तद्यथा—

संकरापात्रकृत्यासु मासं शोधनमैन्दवम्॥

एवं च यदैकादशेऽध्याये निन्दितप्रतिग्रहस्य चान्द्रायणमेकं प्रायश्चित्तं पुनरत्र चतुर्थाध्याये तस्य प्रतिग्रहस्यैकविंशतिनरकप्राप्तिफलाभिधानमितरेतरं विरुध्यते। एकादशस्थं च कथनं सम्यग्भाति। अत्रत्यानि च षट् पद्यानि प्रक्षिप्तानि सिद्धानि नात्र शङ्कास्ति नरकविषयको विचारश्च कर्मफलविचारावसरे द्रष्टव्यः॥

अग्रे दशोत्तरशततमैकादशोत्तरशततमे द्वे चतुर्दशोत्तरशततमं च पद्यत्रयं प्रक्षिप्तमस्ति। एकोद्दिष्टस्य निमन्त्रणमङ्गीकृत्य किमर्थं वेद-

पाठः प्रतिषिध्यते ?। वेदाध्यायिनामन्तेवासिनां यदा केनचिन्निमन्त्रणं क्रियते तदा भोजनोद्योगसमयोऽप्यध्ययनाय मेलिष्यति तदानीं तु प्रसन्नतया पूर्वतोऽप्यधिकतरमध्येतव्यम्। किन्तु श्राद्धभोजनानन्तरं नाध्येतव्यं शरीरस्य गुरुत्वादजीर्णभयाच्च तत्तु पूर्वपद्येन निषिद्धमेव। सूतकशब्दस्य यदि योगरूढार्थः सन्तानोत्पत्तिकालः स्वीक्रियते तर्हि राज्ञः पुत्रोत्सवे प्रसन्नतयाऽवश्यं वेदपाठः कार्यः। कुर्वन्ति च तथैव मनसःप्रसादविशेषात्। यदि सूतकशब्देन राजादेर्मरणानन्तरं शोककाल उपादीयते तदा तु वेदाध्ययनं न कार्यं राज्ञः शोकः प्रजास्थैरपि करणीयः। राहुश्चैको ग्रहो लोकश्चास्ति तस्य गृहे तस्यैव वा मरणं जीवनं च द्वयमप्यसम्भवमिति कृत्वा राहोः सूतकमेव नास्ति किन्तु सूर्याचन्द्रमसोरुपरि लोकान्तरच्छायारूपं ग्रहणं च नास्त्यध्ययनस्य विघ्नहेतुरिति कृत्वा तादृशावसरेऽध्ययननिषेधो निरर्थकः। तथाग्निमोर्थवादोऽप्यनर्थकः। प्रात्यहिकभुक्तस्यैकानुदिष्टभुक्तस्य वा गन्धो लेपश्च शरीरे स्थास्यत्येव नैव दिनद्वयेन मासेन वा नष्टो भवितुमर्हति। यथा समुद्रे गतं गङ्गोदकं नैव नश्यति तथैव रसरुधिरादिधातुरूपेणाहारो देहे व्याप्स्यति पुनः किं यावज्जन्मवेदाध्ययनमेकानुदिष्टभोजिना त्याज्यम्?। नैतत्सम्भवति तस्मात्प्रक्षिप्तमेतत्। अमावास्या गुरुं हन्तीत्यादिरर्थवादस्तु प्रामादिकः प्रत्यक्षादेव विरुद्धत्वात्। नैवामावास्यायामध्यापनादध्यापका मृता दृश्यन्ते। पर्वस्वनध्यायस्य प्रयोजनन्तूक्तमेव। अग्रे षड्विंशत्युत्तरशततमं चापि पद्यं प्रक्षिप्तं प्रतिभाति। नहि पशुमण्डूकादीनामन्तरागमनेऽध्यापकाध्येत्रोः काचिदपि हानिः केनचिद्विदुषानुमातुं शक्यते। एवंभूतवाक्यैर्धर्मशास्त्रस्य तुच्छत्वमप्यायाति। एवम्भूतं वेदाध्ययनं मह-

त्कर्मास्ति तस्य मण्डूकादयस्तुच्छाः क्षुद्राः प्राणिनो विघ्नकारकाः स्युरित्यसम्भवं च। विघ्नकारको हेतुश्च विघ्नविषयात्प्रबलो भवति तदानीमेव विघ्नो भवितुमर्हति। कुपथ्यप्राबल्ये रोगवत्॥

अग्रे पञ्चषष्टिषट्षष्ट्युत्तरशततमपद्ये प्रक्षिप्ते स्तः। अत्र प्रथमेऽवगुरणस्य शतं वर्षाणि तामिस्रनरके पतनं फलमभिहितम्। एकादशेऽध्याये चावगुरणस्य कृच्छ्रमेकं प्रायश्चित्तमुक्तं तेनैतद्विरुध्यते। न च द्वयं सम्भवति। अवगुरणरूपस्य पापस्य फलं दण्डो वा कृच्छ्रमप्यधिकमेवास्ति किन्तु शतं वर्षाणि नरकपतनफलन्त्वसम्भवमेव। नहि कश्चिदपि विद्वानेतादृशलघुपातकस्येदृशं बृहत्फलं न्याय्यमङ्गीकरिष्यति। द्वितीयेऽत्रैकविंशति जन्मानि पापयोनिषु पतनं ब्राह्मणताडनस्य फलमभिहितमस्ति। एकादशाध्याये च प्रणिपत्य प्रसादयेदिति प्रायश्चित्तमभिहितं तदपीतरेतरं विरुध्यते। अत्रापि पूर्ववदल्पापराधस्येदृशं महद्दुःखफलमसम्भवमन्याय्यञ्च। अष्टषष्ट्युत्तरशततमं पद्यं च प्रक्षिप्तम्। एकादशे च ताडनेन ब्राह्मणस्य शोणितोत्पादनेन कृच्छ्रातिकृच्छ्रौ प्रायश्चित्तमुक्तम्। तावदेवास्यापराधस्य दण्डः सम्भवति। अत्रत्यं च फलमसम्भवमन्याय्यं चास्ति। एवमत्र पद्यत्रयं प्रक्षिप्तं प्रतिभाति॥

अग्रे एकाशीत्युत्तरशततमपद्यस्योत्तरार्द्धादारभ्य चतुरशीत्युत्तरशततमपद्यस्य पूर्वार्द्धावधि पद्यत्रयं प्रक्षिप्तमस्ति। ऋत्विगादिमान्यपुरुषैः सार्द्धं विवादो नैव कार्य्य इति स्पष्टमेव शिष्टैः स्वीक्रियते नात्रार्थवादत्वेन कारणवादोऽपेक्ष्यते। सति विवादे तेषां मान्यत्वहानिरेवास्ति। इदमपि स्पष्टं कारणम्। नैव सर्वविधिष्वर्थवादेन भाव्यम्। असम्भवश्चायमर्थवादो यद्ब्रह्मलोकस्य स्वाम्याचार्यः स्यादिति।

यस्य ब्रह्मणो लोकस्स एवेशो भविष्यति । यद्यचार्यः स्वामी स्यात्तर्हि ब्रह्मणो लोक इति वक्तुमशक्यम् । यस्य तद्भवति स एव तस्य स्वाम्यपि भवतीति सर्वानुमतं सिद्धम् । एवं पित्रादीनां स्वामित्वेऽपि योज्यम् । तस्मादेतच्छ्लोकत्रयं प्रक्षिप्तमिति धीमद्भिरनुसन्धातव्यम् ॥

एकोननवत्युत्तरशततमं पद्यं प्रक्षिप्तम् । इतः पूर्वपद्येऽन्नप्रतिग्रहनिषेधस्यार्थवाद उक्त एव स च सम्भवति । एतच्च प्रत्यक्षादेव विरुद्धम् । इदानीन्तना बहवोऽविद्वांस एव दानं प्रतिगृह्णन्ति न च तेषां मरणमुपलभ्यते । नचाश्वमादातुश्चक्षुषी नष्टे भवत इत्युपलभ्यते तस्मात्प्रक्षिप्तमेतत् ।

सप्तदशोत्तरद्विशततमपद्यादारभ्यैकविंशोत्तरद्विशततमावधि चत्वारि पद्यान्यर्थवादरूपाणि प्रक्षिप्तानि । धर्मात्मनां राज्ञामन्नं भोक्तव्यं तथा च पूर्वजैर्महर्षिभिराचरितमितिहासादिसिद्धं चास्ति । अधर्मिणो राज्ञः पूर्वमेव निषिद्धम् । अन्येषामपि शूद्रादीनामधर्मिणामेव त्याज्यम् । धर्मात्मनां तु सदैवान्नं ग्राह्यम् । असम्भवो घृणितस्तुच्छत्वप्रतिपादकः प्रत्यक्षविरुद्धश्चायमर्थवाद इति कृत्वा प्रक्षिप्तपक्षे त्याज्यः । सर्वेषामन्नप्रतिषेधस्यार्थवादो द्वाविंशत्युत्तरद्विशततमपद्ये प्रतिपादितः स एव साधुः ।

अग्रेऽष्टाचत्वारिंशदुत्तरैकोनपञ्चाशदुत्तरद्विशततमे द्वे पद्ये प्रक्षिप्ते स्तः । आदिमेऽर्थवादोऽसाधुरसम्भवश्चास्ति । न चात्र विशिष्टार्थवादस्य किमपि प्रयोजनं दृश्यते । स्वयमागतायाः कथमप्यविरुद्धाया भिक्षायाः सामान्यतया ग्रहणं कार्यमिति विहितम् । अतएवायाचितागतशय्यादीनामत्याज्यत्वकथनं द्वितीयपद्ये पुनरुक्तम् । मत्स्यमांसादिकं च कीदृशमपि नादेयं हिंसामूलत्वात् । यदि शय्यादीनां विशे-

पतया विधानमूरीक्रियते तदा सामान्यकथनं व्याहन्यते न चात्रो-त्सर्गापवादौ संघटेते। एवमितरेतरव्याहतत्वाच्छय्यामिति पद्यं प्रक्षिप्तम्। एवमुक्तप्रकारेणास्मिन् चतुर्थाध्याये षष्ठ्युत्तरद्विशतपद्येषु पञ्चविंशतिः पद्यानि प्रक्षिप्तानि शिष्टानि पञ्चत्रिंशदुत्तरद्विशतपद्यानि च शुद्धानि धीमद्भिरनुसन्धेयानि॥

भाषार्थः—अब चौथे अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों की समीक्षा की जाती है। २७। २८ सत्ताईश और अट्ठाईश दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। और छब्बीशवां श्लोक २५ पच्चीशवें श्लोक में दी आज्ञा की पूर्त्ति करने वाला है। और विधिवाक्य का शेष विधि करके ही माना जाता है इस से छब्बीशवां श्लोक भी विधिवाक्य ही है। उस छब्बीशवें पद्य में पशुशब्द करके गौ आदि से होने वाले मुख्य घृतादि से होम करे यह विधान किया गया है। यदि कोई कहे कि पशु के मांस से होम करने की कल्पना निकालेंगे तो पशु से उत्पन्न हुआ वस्तु वा उस का विकार अर्थ लेना दोनों पक्ष में तुल्य है वहां पशु से हुआ मांस और यहां पशु के ही शरीर से निकला घृतादि है। तो इस में कोई विशेष हेतु नहीं है कि जो पशु से होने वाला मांस ही पशुशब्द से लिया जावे और दुग्ध घृतादि न लिया जावे। और पशु के प्राण निकालनेरूप हिंसा किये विना मांस उत्पन्न नहीं हो सकता और हिंसा करने में पाप अवश्य है क्योंकि यदि गौ आदि पशु बना रहे तो उस से होने वाले घृतादि से फिर भी यज्ञ कर सकते हैं और यदि मार कर उस के मांस का होम कर दिया जायगा तो पशु उसी समय समाप्त हो जायगा फिर आगे होने वाली दुग्धादि के लाभ की भी हानि ही होगी। और मांस के जलाने से दुर्गन्धि अवश्य निकलेगी और घृतादि के होम से सुगन्धि होगी। इस कारण छब्बीशवें श्लोक में पशु शब्द से उस का घृतादि पदार्थ लेना चाहिये। यदि कोई ऐसा लाक्षणिक अर्थ न करे तो "पशु से होम करना चाहिये" यह वाक्य ही नहीं बनेगा। क्योंकि जीते हुए समूचे पशु का होम अग्नि में कोई नहीं कर सकता। और जैसे दुग्ध घृतादि का नाम पशु नहीं वैसे मांस का नाम भी पशु नहीं है। इस से पशु शब्द करके दुग्ध घृतादि ही लेना चाहिये और मांसादि लेने में पूर्वोक्त अनेक दोष हैं॥

सत्ताईश और अट्ठाईशवें श्लोक में अर्थवाद है सो वह अर्थवाद शास्त्र की मर्यादा के अनुकूल ठीक नहीं है। जब वेद में स्पष्ट लिखा है कि "यज्ञ करने वाले पुरुष के पशुओं की रक्षा कर" अर्थात् यज्ञ करने वालों के पशुओं के कभी न मारना चाहिये किन्तु उन पशुओं की ठीक२ रक्षा से घृतादि निकाल कर यज्ञादि का प्रचार बढ़ाना चाहिये जो यज्ञ करने वालों के गौ आदि पशु नष्ट हो जायँ गे तो दूध घृत आदि के न होने से यज्ञ की ही हानि होगी। ऐसा स्पष्ट प्रमाण मिलने पर जो मांसादि से होम करना चाहते हैं वे वेदविरोधी हैं और इसी के अनुसार उक्त दोनों २७। २८ श्लोक भी वेदविरुद्ध हैं इस से विचारशीलों को नहीं मानने चाहिये॥

आगे छयाशी श्लोक से ले कर एकानवे पर्यन्त प्रक्षिप्त हैं। ये भी छः श्लोक असम्भव अर्थवादरूप हैं। यद्यपि पञ्चाशी श्लोक में जो अर्थवाद है उस में भी किसी प्रकार अत्युक्ति प्रतीत होती है तथापि उस का भयानक होना अनुमान कर सकते हैं। इन छः श्लोकों में शास्त्रविरुद्ध चलने वाले नास्तिक राजा वा क्षत्रिय भिन्न नीच वर्णसङ्करादि राजा से विद्वान् को दान न लेना चाहिये। उस दान का लेना पंचाशी श्लोक से कहे अनुसार दूषित है यही कहना ठीक है। और क्षत्रिय भिन्न वा अधर्मी से दान लेने वाला क्रम से २१ इक्कीश नरकों को प्राप्त हो यह सर्वथा असम्भव है। ग्यारहवें अध्याय के प्रायश्चित्त प्रसङ्ग में चार महापातक और कई उपपातक भी गिनाये गये हैं उन में ब्रह्महत्यादि महापातकों का ही नरक प्राप्ति फल कहा है। जैसे "महापातकी लोग अनेक दुःसह दुःखों से युक्त नरकरूप स्थानों को अनेकों वर्ष तक पाकर संसारी कुत्ते आदि की योनि को प्राप्त होते हैं। और सब पापों में महापातक ही बड़े पाप हैं मुख्य कर उन्हीं का दुःखरूप नरकप्राप्ति फल होना चाहिये। यदि दुष्ट दान लेने का नरक फल हो तो महापातकों का उस से बहुत बड़ा दुःख फल क्या होगा? अर्थात् कुछ नहीं। जब राजा छोटे२ अपराधों पर प्राणदण्ड [फांसी] वा जन्मभर बन्धन [जन्म-क़ैद] कर देवे तो बड़े अपराधों के लिये और बड़े दण्ड कहां से आवें?। इसी कारण निन्दित दान लेने का नरकप्राप्ति फल कहना असङ्गत है। और निन्दित प्रतिग्रह उपपातकों में भी नहीं गिनाया गया किन्तु "निन्दित लोगों से धनादि का दान लेना, निषिद्ध वस्तुओं का बेंचना, शूद्र की सेवा करना और मिथ्या बोलना ये अपात्रीकरण अर्थात् मनुष्य को नीच बनाने वाले काम हैं। इस का

दण्ड फल वा प्रायश्चित्त भी वहां स्वयमेव दिखाया है कि ऐसे कामों का प्रायश्चित्त वा दण्डरूप दुःख फल भोग एक चान्द्रायण व्रत करे। इस प्रकार जब ग्यारहवें अध्याय में निन्दितों से दान लेने का फल चान्द्रायण प्रायश्चित्त कहा फिर यहां चौथे अध्याय में इसी का फल इक्कीश नरकों की प्राप्ति कहना परस्पर विरुद्ध है ग्यारहवें अध्याय का कथन ठीक प्रतीत होता है और यहां चौथे अध्याय के उक्त छः श्लोक प्रक्षिप्त हैं यह निस्सन्देह विचार है। नरकसम्बन्धी विचार कर्मफल विचार प्रकरण में होगा॥

आगे ११०।१११ एकसौ दश एकसौ ग्यारह और एकसौ चौदह ११४ ये तीन श्लोक प्रक्षिप्त हैं। एकोद्दिष्ट श्राद्ध का निमन्त्रण मान कर वेदपाठ करना क्यों निषिद्ध है?। क्या उदरम्भर बन कर पेट भरने के ही विचार में लगा रहे? और पढ़ना लिखना छोड़ देवे। वेद पढ़ने वाले विद्यार्थियों का जब कोई निमन्त्रण करता है तब भोजन बनाने में जो समय लगता वह भी पढ़ने के लिये मिल जायगा इस कारण उस समय तो पहिले से भी अधिक पढ़ना हो सकता है। परन्तु श्राद्धभोजन किये पश्चात् थोड़े काल तक दो चार घड़ी नहीं पढ़ना क्योंकि शरीर के भारी होने से तथा अजीर्ण के भय से कि अजीर्ण न हो जावे। सो ऐसा निषेध पूर्वश्लोक से कर ही दिया है। और सूतकशब्द का सन्तानोत्पत्ति कालरूप योगरूढार्थ स्वीकार किया जाता है तो राजा के पुत्रोत्सव में प्रसन्नता के साथ वेद का पाठ अवश्य करना चाहिये। और प्रायः लोग ऐसा करते भी हैं कि मन की प्रसन्नता विशेष होने से राजा का उत्सव मानें। और यदि सूतकशब्द से राजादि के मरने पश्चात् शोक काल लेवो तो उस समय वेद नहीं पढ़ना चाहिये क्योंकि प्रजा के मनुष्यों को भी राजा का शोक माननीय है। परन्तु इस के लिये यहां अनध्यायप्रसङ्ग में कुछ कहना आवश्यक नहीं क्योंकि पञ्चमाध्याय की सूतकशुद्धि में इस का विचार होगा। राहु एक ग्रह वा लोक है उस के घर में स्त्री पुत्रादि वा उसी का मरण वा जन्म दोनों ही असम्भव हैं ऐसा मानने से राहु का सूतक ही नहीं हो सकता किन्तु सूर्यचन्द्रमा के ऊपर लोकान्तर की छायारूप ग्रहण, पढ़ने का विघ्नकारी नहीं हो सकता ऐसा मान कर ग्रहण समय में पढ़ने का निषेध करना व्यर्थ है। तथा अगला अर्थवाद भी व्यर्थ है। प्रतिदिन खाये हुए वा एकोद्दिष्ट श्राद्ध में खाये हुए अन्न का गन्ध और लेप शरीर में अवश्य रहेगा किन्तु दो एक दिन वा मास दो मास में नष्ट नहीं हो सकता

जैसे गङ्गादि नदियों का जल समुद्र में मिल जाने से उस का अभाव नहीं होता वैसे खाया पिया आहाररस रुधिरादि धातुओं के रूप से शरीर में व्याप्त हो जायगा। फिर क्या एकानुदिष्ट श्राद्ध में खाने वाले को जन्म भर के लिये वेद का पढ़ना छोड़ देना चाहिये ? अर्थात् यह सम्भव नहीं इस लिये यह प्रक्षिप्त है। और अमावास्या में पढ़ाने से गुरु को पठन क्रिया मारती है इत्यादि अर्थवाद भी ठीक वा युक्त नहीं क्योंकि प्रत्यक्ष से ही यह विरुद्ध है। अमावास्या में पढ़ाने से अध्यापक प्रत्यक्ष में मरे नहीं दीखते। यदि कोई कहे कि फिर अमावास्यादि में पठन का निषेध क्यों किया ? तो इस का उत्तर हम पूर्व अनध्याय विचार में लिख चुके हैं ॥

आगे एकसौ छब्बीशवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। क्योंकि पशु वा मेंडक आदि के बीच से निकल जाने में पढ़ने पढ़ाने वालों की कुछ हानि कोई विद्वान् नहीं मान सकता। ऐसे वाक्यों से धर्मशास्त्र की तुच्छता भी आती है। वेद का पढ़ना ऐसा बड़ा काम है कि उस के चलने में तुच्छ वा क्षुद्र मेंडक आदि जीव विघ्नकारी हों यह असम्भव है। और विघ्नकारक हेतु जिस कार्य में विघ्नकरता है उस से प्रबल होता है तभी विघ्न हो सकता वा कर सकता है कि जैसे कुपथ्य अधिक बढ़ जावे तो रोग दबा लेता और ओषधि का बल बढ़ने से रोग दब जाता है॥

आगे एकसौ पेंसठ और एकसौ छासठ श्लोक प्रक्षिप्त हैं। यहां पहिले श्लोक में घुरोंने का सौ वर्ष तक अन्धकाररूप नरक में गिरना फल कहा है। और ग्यारहवें अध्याय में घुरोंने का दण्ड वा प्रायश्चित्त एक कृच्छ्रव्रत कहा है इस से ये दोनों बातें विरुद्ध हैं किन्तु दोनों सत्य नहीं हो सकते। घुरोंनेरूप पाप का फल वा दण्ड एक कृच्छ्रव्रत करना भी अधिक है किन्तु सौ वर्ष नरक में गिरना रूपफल तो सर्वथा असम्भव ही है। कोई भी विद्वान् ऐसे छोटे अपराध के ऐसे बड़े फल को न्याययुक्त कभी न मानेगा। इस चौथे अध्याय में ब्राह्मण को ताड़ना देने का फल इक्कीश जन्मों तक पापयोनियों में गिरना लिखा है। तथा ग्यारहवें अध्याय में दण्डवत् प्रणाम कर के प्रसन्न करे यह प्रायश्चित्त कहा है सो इस में भी परस्पर विरोध है। यहां भी पूर्व के तुल्य अति छोटे अपराध का ऐसा बड़ा दुःख फल मिलना असम्भव और अन्याय है। एकसौ अड़सठ श्लोक भी प्रक्षिप्त है। ग्यारहवें अध्याय में लकड़ी आदि के मारने से ब्राह्मण के शरीर में रुधिर निकल आनेरूप अपराध पर कृच्छ्र और अतिकृच्छ्ररूप प्रायश्चित्त लिखे

हैं इतना ही इस अपराध का दण्ड मिलना उचित वा न्याययुक्त है। और यहां चौथे अध्याय में दिखाया पाप फल असम्भव और न्यायविरुद्ध है । इस प्रकार यहां तीन श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं ॥

आगे एकसौ इक्याशी १८१ श्लोक के उत्तरार्द्ध से ले कर एकसौ चौराशी के पूर्वार्द्ध पर्यन्त तीन श्लोक प्रक्षिप्त हैं । ऋत्विज् पुरोहित गुरु आचार्य आदि मान्यपुरुषों के साथ विवाद नहीं करना चाहिये यह सब शिष्ट लोग मानते हैं इस में अर्थवादरूप कारण वाद की कुछ भी अपेक्षा नहीं है क्योंकि विवाद होने से उन सज्जनों की मानहानि होना दोष है यह कारण भी स्पष्ट है । तथा सब विधियों में अर्थवाद का होना भी आवश्यक नहीं । तथा पूर्व कहा अर्थवाद असम्भव है कि जो ब्रह्मलोक का स्वामी आचार्य हो । जिस ब्रह्म का वह लोक है वही उसका स्वामी होगा । यदि आचार्य स्वामी हो तो ब्रह्म का लोक नहीं कह सकते । जिसका वह वस्तु होता है वही उस का स्वामी भी माना जाता है यह सब के अनुकूल सिद्ध है । ऐसे ही पिता आदि के स्वामी बनाने के अर्थवाद को भी गड़बड़ जानो । इस लिये ये तीन श्लोक बुद्धिमानों को प्रक्षिप्त मानने योग्य हैं ।

आगे एकसौ नवाशी श्लोक प्रक्षिप्त है । इससे पूर्व अठाशी श्लोक में मूर्ख को दान देने के निषेध का अर्थवाद कहा है वह सम्भव भी है और यह कथन प्रत्यक्ष से ही विरुद्ध है कि अविद्वान् लोग दान लेने से मर जावें वा उन के नेत्रादि फूट जावें। आज कल अधिकांश मूर्ख लोग ही दान लेते और उन्हीं को दिया जाता है परन्तु उन का मरण आदि होते नहीं दीख पड़ता किन्तु पराया धन विना परिश्रम का खा२ कर सहस्रों लोग अच्छे मोटे हो रहे हैं। घोड़े का दान लेने वाले के नेत्र फूट जावें यह भी कहीं नहीं दीख पड़ता ।

आगे दो सौ सत्रह से लेकर दो सौ इक्कीश पर्य्यन्त २१७—२२१ चार श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इन में भी असम्भव वा परस्पर विरुद्ध अर्थवाद ही कहा गया है किन्तु ये विधि वाक्य नहीं हैं । अधर्मी अन्यायी वा क्षत्रिय से भिन्न राजा का अन्न विद्वानों को नहीं खाना चाहिये इस पूर्व किये निषेध की अर्थापत्ति यह है कि धर्मात्मा राजाओं का अन्न अवश्य खाना चाहिये और ऐसा ही पूर्वज ऋषि लोगों ने भी किया है और इतिहासादि ग्रन्थों से सिद्ध भी है । और अधर्मी अन्यायी राजा का धान्य विद्वान् को लेना पूर्व ही निषेध कर चुके हैं । तथा

अन्य शूद्रादि जिन २ का अन्न निषिद्ध है उन का भी अधर्मी हों तो अन्न त्याज्य है धर्मात्माओं का तो सदा ही अन्न ग्रहण करना चाहिये। असम्भव घृणित तुच्छता दिखाने वाला और प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध यह अर्थवाद है ऐसा मान कर प्रक्षिप्त कोटि में उक्त श्लोक छोड़ देने चाहिये। तथा जिन २ के अन्न का लेना निषिद्ध है उसका अर्थवाद सामान्य कर दो सौ बाईश २२२ श्लोक में दिखा दिया है वही ठीक है किन्तु यह ठीक नहीं है॥

आगे दो सौ अड़तालीश और दो सौ उञ्चाश ये दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। पहिले में अर्थवाद मिथ्या और असम्भव है। इस विषय में विशेष अर्थवाद का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। जिसमें किसी प्रकार का दोष वा विरोध न हो तथा विना मांगे स्वयं प्राप्त हो जावे ऐसी भिक्षा वा दान का सामान्य कर ग्रहण करना चाहिये यह विधान किया है। इसी कारण विना मांगे प्राप्त हुई खट्वा आदि के त्याग न करने का कथन द्वितीय पद्य में पुनरुक्त है। मछली और मांस तो कैसा ही हो न लेना चाहिये क्योंकि उसका मूल हिंसा वा हत्या करना अधर्म है। यदि खट्वादि का विशेष कर विधान मानो तो सामान्य कथन विरुद्ध है क्योंकि यहां उत्सर्गापवाद की रीति नहीं घटित होती। सो परस्पर विरुद्ध होने से (शय्याम्०) यह श्लोक प्रक्षिप्त है। इस उक्त प्रकार से इस चौथे अध्याय में के दो सौ साठ २६० श्लोकों में से पचीश २५ श्लोक प्रक्षिप्त हैं और शेष दो सौ पैंतीस २३५ श्लोक शुद्ध हैं। बुद्धिमान् लोगों को विचार पूर्वक अनुसन्धान करना चाहिये॥

अथ भक्ष्याभक्ष्यविवेचनम्॥

यादृशेनाहारेण मनुष्यस्य स्वास्थ्यं संरक्ष्यते। स्वास्थ्यं च मनसो बुद्धेः शरीरस्थधातूनां चाविकारिभावोऽवैषम्यम्। तथा सत्येव मनुष्यः सुखी भवति। सुखं च धर्मस्य फलमतो धर्ममनुतिष्ठासता पुरुषेणादौ तादृश आहारः सेवनीय एतादृश आहारः सामान्येन भक्ष्य इत्युच्यते। येन च मनसो बुद्धेः शरीरस्थधातूनां च वैषम्यमुपजायते स आहारोऽभक्ष्यस्त्याज्य इत्युच्यते तथा कुर्वन् मनुष्यो दुःखमनुभवति दुःखं चाधर्मस्य फलम्। अतस्तादृश आहारो

धर्मेप्सुना सदैव त्याज्यः। इदं च द्वैविध्यं सर्वानुमतमविवादास्पदं सर्वतन्त्रसिद्धान्तसिद्धं च नात्र कस्यचिद्विवादोऽस्ति। तथा चोक्तं सुश्रुतकारेण सूत्रस्थाने हिताहितीयाध्याये—यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यमित्यनेन हेतुना न किञ्चिद् द्रव्यमेकान्तेन हितमहितं वाऽस्तीति केचिदाचार्या ब्रुवते तत्तु न सम्यक्। इह खलु यस्माद् द्रव्याणि स्वभावतः संयोगतश्चैकान्तहितान्येकान्ताहितानि हिताहितानि च भवन्ति। तत्रैकान्तहितानि जातिसात्म्यात् सलिलघृतदुग्धौदनप्रभृतीनि। एकान्ताहितानि दहनपचनमारणादिषु प्रवृत्तान्यग्निक्षारविषादीनि। हिताहितानि तु यद्वायोः पथ्यं तत्पित्तस्यापथ्यम्। इति। एवमत्र त्रैविध्यमुक्तम्। तथा च भगवद्गीतासूक्तं सप्तदशेऽध्याये—

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिराः हृद्याश्चाहारा सात्त्विकप्रियाः॥१॥
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥२॥
यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥३॥

मध्यस्थे च विवादो यत्र हितमहितं च मिश्रितमस्ति तत्र देशकालवस्तुभेदेन हितबहुलमुपादेयं यद्वा हितप्रबलमुपादेयं विपरीतं च त्याज्यमेतदर्थमेव विद्वद्भिः समये समये लोकव्यवहारव्यवस्थापनाय धर्मशास्त्राणि निर्मीयन्ते। तस्माच्च शिष्टं सभ्यैर्विद्वद्भिर्धीमद्भिश्च यथासमयं निर्णीयते तदर्थं च धर्मशास्त्रेषु शासनमप्युपलभ्यते। अतएवोक्तम्—दशावरा वा परिषद्यं धर्मं परिकल्पयेत्। इत्यादि सामान्येनायं विचारः॥

अथ विशिष्टो विचारः। अत्र भक्ष्याभक्ष्यप्रकरणे प्राधान्येन द्वौ भेदौ जडचेतनभेदात्। चेतनैर्जडाश्चेतनाश्च खाद्यन्ते। अयं च सिद्धानुवादो नायं विधिः। तथा चोक्तमस्मिन्नेव प्रकरणे—चराणामन्नमचरा दंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः। अहस्ताश्च सहस्तानां शूराणां चैव भीरवः। इत्यादिना सिद्धानुवाद उत्सर्गरूपेण प्रदर्शितः। अस्यैवान्यान्यपि सर्वाणि विधिनिषेधपराणि वाक्यानि बाधकानि भविष्यन्ति। यच्च लशुनं गृञ्जनं पलाण्डुं कवकान्यमेध्यप्रभवाणि च वस्तून्यभक्ष्याण्युक्तानि। तत्रेत्थं बोद्ध्यम्—लशुनादयो विषवत् त्याज्या न भवन्ति कुतस्तद्भक्षकाः पीडादिना विपन्ना नैव दृश्यन्ते। यश्चाहारवर्गः सामान्यतया सर्वप्राणिनां पथ्यतमः सुश्रुतस्य हिताहितीयाध्याय उपदिष्टस्तत्रापि लशुनादीनां परिगणनं नैव दृश्यतेऽतः कारणाल्लशुनादयः पदार्थाश्चिकित्साशास्त्रानुसारेण हिताहितमिश्रिताहारवर्गेऽनुसन्धेयाः। हिताहिते चोक्तम्—"यद्वायोः पथ्यन्तत्पित्तस्यापथ्यम्" इत्यादिप्रकारेण यद्वस्तु कस्मिंश्चिद्देशे काले वा यस्य भक्ष्यं तदेव वस्तु देशान्तरे कालान्तरेऽवस्थान्तरे वा तस्यैव कारणविशेषादभक्ष्यं भवति। एवमभक्ष्यं च भक्ष्यमपि भवति। तथैव लशुनादयोऽपि केनचित्क्वचिद्भक्ष्या न तु सर्वत्र। सामान्यतया स्वस्थनीरोगावस्थायां द्विजातिभिर्न भक्ष्या लशुनादय इति धर्मशास्त्रस्य तात्पर्यम्। तत्र लशुनादिषु ये गुणाः सन्ति ते प्रायशः सत्त्वगुणस्य वर्द्धका नैव दृश्यन्ते किन्तु तेषु रजस्तमसोः प्रवर्त्तकाः सत्त्वस्य विघातकाश्च गुणाः सन्तीति मनसिकृत्य धर्मशास्त्रे तेषां भक्षणस्य प्रतिषेधः कृतः। द्विजातिभिर्वैदिकं धर्म्यं सत्त्वगुणसम्बद्धमेव कर्म विशेषतया सेव्यम्। सत्त्वगुणप्रधानमतिभावाय च तादृशा एव पदार्थाः सेव्याः। अथ

सुश्रुतस्य सूत्रस्थानस्थान्नपानविधिनामके षट्चत्वारिंशत्तमेऽध्याये लशुनपलाण्डुशब्दयोर्विषयइत्थमुक्तम्—

स्निग्धोष्णतीक्ष्णः कटुपिच्छिलश्च गुरुः सरः स्वादुरसश्च बल्यः।
वृष्यश्च मेधास्वरवर्णचक्षुर्भग्नास्थिसन्धानकरो रसोनः ॥१॥
हृद्रोगजीर्णज्वरकुक्षिशूलविबन्धगुल्मारुचिकासशोफान्।
दुर्नामकुष्ठानलसादजन्तुसमीरणश्वासकफांश्च हन्ति ॥२॥
नात्युष्णवीर्योऽनिलहा कटुश्च तीक्ष्णो गुरुर्नातिकफावहश्च।
बलावहः पित्तकरोऽथ किञ्चित्पलाण्डुरग्निं च विवर्द्धयेच्च ॥३॥
स्निग्धो रुचिस्थः स्थिरधातुकर्त्ता बल्योऽथ मेधाकफपुष्टिदश्च।
स्वादुर्गुरुः शोणितपित्तशस्तः स पिच्छिलः क्षीरपलाण्डुरुक्तः ॥४॥

यथा मृदूष्णं विशिष्टगुणकरं वस्तु भवति तथोष्णत्वे सति तीक्ष्णत्वं रजःप्रवर्त्तकं पिच्छिलत्वे सरसत्वे सति कटुत्वमपि तादृशम्। गुरुत्वं महत्त्वं सरत्वं भेदकत्वमिमावपि गुणौ नैव सर्वहितकराविति किन्तु वातप्रधानाय हितकरौ न च पित्तप्रकृतये। उष्णतीक्ष्णादयोऽपि पित्तकोपकाः पित्तवर्द्धकाश्च गुणा इत्यनुसन्धेयम्। वृष्यो मैथुनेच्छावर्द्धकः। अयं गुणो न सर्वहितकरोऽपि तु कामिनामेव कामोद्दीपनो ब्रह्मचारिणां जितेन्द्रियाणां चानिष्टः। मेधादिकरत्वं स्वादुरसत्वं बल्यत्वं चेत्यादयो गुणास्तस्मिन्प्रायशो हितकरा अपि सन्ति। तेषु सत्स्वपि सत्त्वगुणविघातकत्वं तिष्ठत्येव। अनेके शुभगुणाः सन्त्यतःकारणादेव रसोनोवातादिजन्यरोगेषु प्रयोज्यः। पलाण्डुः किञ्चिदुष्णवीर्यः, वातघ्नः, पित्तकरः, कटुः, तीक्ष्णः, गुरुः, किञ्चित्कफकरः, बलकरः, पाचकः, इत्यादिप्रकारेण लशुनवत्पलाण्डुरपि गुणागुणकरोऽस्ति। अस्मिन् विषये भावप्रकाशे चिकित्साग्रन्थेऽपि लिखितम्—

पञ्चभिश्च रसैर्युक्तो रसेनाम्लेन वर्जितः ।
तस्माद्रसोन इत्युक्तो द्रव्याणां गुणवेदिभिः ॥१॥
कटुकश्चाऽपि मूलेषु तिक्तः पत्रेषु संस्थितः ।
नाले कषाय उद्दिष्टो नालाग्रे लवणः स्मृतः ॥२॥
बीजे तु मधुरः प्रोक्तो रसस्तद्गुणवेदिभिः ।
रसोनो बृंहणो वृष्यः स्निग्धोष्णः पाचनः सरः ॥२॥

इत्यादिप्रकारेण पूर्ववद्गुणागुणकरएव दर्शितः । पलाण्डुविषयेऽपि भावप्रकाशे विशेषः—

पलाण्डुर्यवनेष्टश्च दुर्गन्धो मुखदूषकः ।
पलाण्डुस्तु गुणैर्ज्ञेयो रसोनसदृशैर्गुणैः ॥४॥
स्वादुपाकरसोऽनुष्णः कफकृन्नातिपित्तलः ।
हरते केवलं वातं बलवीर्यकरो गुरुः ॥५॥

नात्र किमपि तिरोहितमिवास्ति यस्य विशिष्टं व्याख्यानमपेक्ष्येत । गृञ्जनविषयेऽप्युक्तम्—गृञ्जनः पित्तलो ग्राही तीक्ष्णो रोगनाशनः । इत्यादि—गृञ्जनोऽपि लशुनादिवद्गुणवान् रजोगुणवर्द्धकः क्रोधादिकरः कामोद्दीपनश्चेति मत्वाऽभक्ष्ये परिगणितः । कवको यस्य छत्राकमित्यपि नामास्ति शीतलो भेदकश्चास्ति । कवको गृञ्जनः पलाण्डुश्च पक्वः सन्मांसवत्प्रतिभाति पलाण्डुलशुनयोर्गन्धोऽपि सर्वानुकूलो ग्राह्यो नास्ति । तद्वस्तुद्वयभक्षकमुखाद्योऽसौ गन्धो निस्सरति नैव तं सर्वे सुगन्धमिव ग्रहीतुमुत्सहन्तेऽपि तु बहवो दुर्गन्धमिवासह्यं मन्यन्ते । अतःकारणादप्येषामभक्ष्ये परिगणनमस्ति । पुरा धर्मशास्त्रनिर्माणावसरे उक्तादिकारणैर्लशुनादीनां भक्षणप्रचारो नासीत्तमेव निषेधप्रचारं पुरस्कृत्य निबन्धकारैरपि

वक्तुं शक्यते। इत्थमधुना प्रदेशभेदेन लशुनादिभक्षणस्य प्रचारं दृष्ट्वा विधानमपि कर्त्तुं शक्नुवन्ति । तौ च विधिनिषेधौ सकारणौ भवेतामिति सम्यक् । मया त्वेषां निषेधस्य कारणं प्रदर्शितम् । इत्थमेव लोहितमरीचस्यापि भेदकत्वात्क्षीणतोत्पादकत्वाच्च भक्ष्यप्रतिषेधः कर्त्तुं युक्त एव। न च तस्य भक्षणेन मद्यादिवत्पातित्यं सम्भवति। एवं लशुनादीनां भक्षका अपि पतिता न भवन्ति। किन्तु तेषां प्रायिकभक्षणेन रजोगुणः प्रवर्द्धते। अतस्तेषां प्रायिकभक्षणस्यैव निषेधो न तु नैमित्तिके रोगादौ, तत्रत्वौषधत्वेनोपादेया एव । अस्मिन्नभक्ष्यप्रकरणे लशुनादय उपलक्षका उदाहरणमात्रा न तु परिगणिताः । तेन वेदपाठे स्वरदूषकानि सत्त्वविघातकानि रजोगुणवर्द्धकानि च शाकमूलकन्दफलपुष्पादीन्यन्यान्यपि वस्तून्यभक्ष्यपक्षे निःक्षेप्याणि तेषां च निर्णयश्चिकित्साशास्त्रेणैव कर्त्तुं शक्यते । अत्र च दिग्दर्शनमात्रं प्रदर्शितं धर्मेण सम्बन्धात् । सत्त्वगुणे सत्येव सुखविशेष उपजायते। धर्मस्य च प्राधान्येन सुखमेव फलमतो भक्ष्याभक्ष्यस्य धर्मेण साकं युक्त एव सम्बन्धः ॥

अत्र षष्ठे पद्ये गव्यं पेयूषमष्टमे च दशाहात्पूर्वं गोः क्षीरं प्रतिषिद्धम् । तत्र पूर्वपद्ये पेयूषपदेनाग्निसंयोगात्कठिनीकृतमभक्ष्यमुष्णताया मालिन्यस्य च विशिष्टत्वात् । अष्टमे गोरित्युपलक्षणं तेनाजामहिष्यादीनामपि दशाहाभ्यन्तरे विकृतिमनापन्नमपि क्षीरमभक्ष्यम् । कारणं च पूर्वोक्तमेव । सप्त दिनानि तु तत्पेयूषं जायते तावत्तु विशेषतया त्याज्यमिति भेददर्शनाय सामान्यविशेषतया कथनम्। एवमत्र प्रकरणे भोज्यभक्ष्यपेयादिपदार्थानामुदाहरणरीत्याऽग्राह्यत्वं प्रदर्शितमस्ति । विशेषस्तत्रैव व्याख्यास्यते । अतोऽग्रे प्राणिशरीरजन्यमांसभक्ष्याभक्ष्यविचारं करिष्ये ॥

भाषार्थः—अब भक्ष्याभक्ष्य विषय में संक्षेप से विचार किया जाता है–जिस प्रकार के आहार से मनुष्य की स्वस्थदशा रक्षित रहती है। मन बुद्धि और शरीर के अवयवरूप रसादि धातुओं में किसी प्रकार की विषमता न रहना स्वस्थदशा कहाती है। ऐसी स्वस्थदशा के विद्यमान रहने से ही मनुष्य सुखी होता है और सुख धर्म का फल है इस कारण धर्म करने की इच्छा रखने वाले पुरुष को अति उचित है कि पहिले वैसे आहार का ही सेवन करे। ऐसे आहार को सामान्य कर भक्ष्य कहते हैं। और जिस से मन बुद्धि तथा शरीरस्थ धातुओं की विषमता होती है वह आहार अभक्ष्य वा त्याज्य माना जाता है। वैसे आहार का सेवन करने वाला मनुष्य रोगादिक से ग्रस्त हो जाता है और वह रोगादि सम्बन्धी दुःख अधर्म का फल है इस कारण वैसा आहार धर्म चाहने वाले को त्याज्य है। ये दो प्रकार सर्वसम्मत निर्विवाद माननीय हैं इस मन्तव्य में किसी को कुछ विवाद नहीं है। इसी अंश पर सुश्रुतकार ने सूत्रस्थान के हिताहितीय अध्याय में लिखा है कि "जो वात प्रकृति वाले को हितकारी है वही वस्तु पित्तप्रकृति वाले को कुपथ्य वा अहित है। इस हेतु से कोई वस्तु किसी के लिये सर्वथा हित वा अहित नहीं है ऐसा कोई आचार्य कहते हैं सो ठीक नहीं है। क्योंकि इस जगत् में अनेक वस्तु स्वभाव वा संयोग से सब के लिये हितकारी, अनेक सब के लिये अहितकारी तथा अनेक सामान्य कर हित अहित दोनो करने वाले हैं। जैसे जन्म से ही अनुकूल होने से जल घृत दूध भात आदि सर्वथा हितकारी हैं। अग्नि वा अत्युष्ण जलादि में जल जाना गल जाना और विष खा लेना आदि सब के लिये सदा अहितकारी हैं। तथा हित अहित मिश्रित वे ही हैं जो वातप्रकृति के लिये पथ्य है वह पित्त वाले के लिये कुपथ्य है" इस प्रकार यहां तीन प्रकार कहे हैं। तथा भगवद्गीता में भी प्रकारान्तर से आहार के तीन प्रकार दिखाये हैं कि—"सरस चिकनायी सहित स्थिर और हृदय को प्रिय रुचिकर शुद्ध पवित्र दूध घृत आदि आहार आयु, सत्त्वगुण, बल, नीरोगता सुख और प्रीति के बढ़ाने वाले होने से सत्त्वगुणी लोगों को प्रिय वा अनुकूल होते हैं। ऐसे आहार सर्वोत्तम वा सत्त्वगुणी माने जाते हैं। तथा दुःख, शोक (खुश्की) और रोगकारी कटु, खट्टे, अतिलवण, अतिउष्ण, तीखे, रूखे, दाह वा जलन करने वाले आहार रजोगुणी लोगों को प्रिय होते हैं। यही मध्यम प्रकार का आहार माना जाता है। तथा बहुत देर का धरा हुआ, नीरस, बहुत काल धरे रहने से जिस में दुर्गन्ध आने

लगा हो, उच्छिष्ट–जूठा वा अशुद्ध भोजन तमोगुणी को प्रिय होता है। अर्थात् इसी बात को अन्य प्रकारों से भी कह सकते हैं कि ऐसे २ भोजन करने वाले सात्विक, रजोगुणी वा तमोगुणी होते हैं वा सत्वगुणादि बढ़ाने की इच्छा वालों को वैसे २ भोजन करने चाहिये। ये भी आहार के तीन भेद हैं। इन में से उत्तम निकृष्ट में विवाद कम है किन्तु विशेष विवाद नहीं केवल मध्यस्थदशा में विवाद है जहां हित और अहित वा बुराई भलाई दोनों मिले रहते हैं। उस में से देश काल वा वस्तु के भेद से जिस में विशेष वा प्रबल हित हो उस पक्ष का आश्रय लेना चाहिये और लेने पड़ता ही है। इस से विरुद्ध थोड़े हित का पदार्थ वा पक्ष छोड़ देना चाहिये। इसी लिये लोक के व्यवहार को ठीक २ मर्यादा के साथ चलाने की अपेक्षा से विद्वान् लोग समय २ में धर्मशास्त्र बनाते हैं। उन के कहने से जो शेष रह जाता है उस २ को उस २ समय के विद्वान् लोग निर्णीत करते वा उस की व्यवस्था निकालते हैं। इस के लिये धर्मशास्त्रों में आज्ञा भी मिलती है कि "दश विद्वानों की सभा मिल कर जिस धर्मसम्बन्धी विषय का निर्णय कर देवे उस को अचलधर्म मानना चाहिये।" इस का तात्पर्य यह है कि हित अहित से मिले हुए विषय में सदा विवाद बना रहता है और सामयिक न्यायालय वा धर्माचार्य विद्वानों की सभाओं में समय २ पर ऐसी बातों पर सदा निर्णय (फैसला) होता रहता है। यही दशा मध्यस्थ भक्ष्याऽभक्ष्य में जानो। यह सामान्य विचार रहा॥

अब विशेष विचार यह है कि इस भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण में मुख्य कर जड़ चेतन दो भेद हैं। चेतन प्राणी जड़ वा चेतन दोनों को खाया करते हैं। यह सिद्धानुवाद अर्थात् संसार में जो हो रहा है उसी का कथन है कि ऐसा होता है किन्तु विधिवाक्य नहीं है कि चेतनों को जड़ वा चेतन प्राणी खाने चाहिये। सो मनु० के भक्ष्याभक्ष्यप्रकरण में सिद्धानुवादरूप से लिखा है कि " चेतन का अन्न जड़ वा जङ्गम का भोज्य स्थावर, दांत वालों का विना दांत वाले, हाथ वालों का विना हाथ वाले और शूरवीरों का अन्न डरपोक प्राणी हैं अर्थात् जङ्गम स्थावरों को खाते, दांत वाले विना दांत वालों को खाते, हाथ वाले विना हाथ वालों को खा जाते, और शूरवीर हिंसादि भीरु मृगादि को खा जाते हैं। यह सिद्धानुवाद उत्सर्गरूप से दिखाया है। अन्य विधि निषेध परक सब वाक्य इसी के बाधक होंगे। इसी प्रसङ्ग में लहसुन, गाजर, प्याज, कवक–छत्राक (कुकुरमुता

वा कठफूल) तथा अशुद्ध पृथिवी में उत्पन्न हुए सामान्य कर पदार्थ अभक्ष्य कहे हैं उस का विचार ऐसा है कि लहसुन आदि विष के तुल्य अनिष्ट वा त्याज्य नहीं हैं क्योंकि उन के खाने वाले पीड़ादि से दुःखित वा मरण को प्राप्त नहीं हो जाते। तथा जो भोजन करने योग्य पदार्थ सामान्य कर सब प्राणियों के लिये अतिहितकारी सुश्रुत के हिताहितीयाध्याय में कहे गये हैं उन में भी लशुनादि की गणना नहीं की गयी। अर्थात् जो लशुनादि पदार्थ अत्यन्त हितकारी सब को गुण देने वाले दूध आदि के तुल्य होते तो सर्वथा सर्वहितकारी पदार्थों की गणना के साथ इन का भी नाम आता सो ऐसा न होने से सिद्ध होता है कि लशुनादि सब के हितकारी वा विशेष गुणकारी नहीं किन्तु मध्यस्थ कोटि में अर्थात् हित अहित से मिले हुए आहार के समुदाय में मानने चाहिये। और हिताहित का लक्षण यही कहा गया है कि जो बातप्रकृति वाले को पथ्य है वही पित्त वाले को कुपथ्य होगा। इत्यादि प्रकार से जो वस्तु किसी देश वा काल में किसी का भक्ष्य है वही वस्तु देशान्तर कालान्तर वा अवस्थान्तर में उसी को वा अन्य को किसी कारण से अभक्ष्य हो जाता है। इसी प्रकार अभक्ष्य वस्तु भक्ष्य भी हो जाता है। इसी कारण लहसुन आदि वस्तु भी किसी को किसी देश वा कालादि में भक्ष्य वा अभक्ष्य होते रहते हैं। परन्तु सामान्य कर स्वस्थ वा नीरोग दशा में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यों को लहसुन आदि का भक्षण नहीं करना चाहिये यह धर्मशास्त्र में निषेध करने का अभिप्राय है। उन लशुनादि में जो अच्छे गुण भी हैं वे प्रायः सत्त्वगुण के बढ़ाने वाले नहीं दीखते किन्तु उन में रजोगुण तमोगुण के बढ़ाने और सत्त्व के विनाशक गुण अधिक हैं ऐसा मन में विचार करके धर्मशास्त्र में उन लशुनादि का खाना निषिद्ध किया है। और द्विजाति नाम ब्राह्मणादि तीन वर्णों को धर्मयुक्त वेदोक्त सत्त्वगुणसम्बन्धी कर्म का विशेष कर सेवन करना चाहिये। और मुख्य कर सत्त्वगुणयुक्त बुद्धि होने के लिये वैसे ही सत्त्वगुणवर्द्धक पदार्थों का भोजन करना चाहिये। अब आयुर्वेदनामक सुश्रुत के सूत्रस्थान के अन्नपानविधिनामक छयालीशवें अध्याय में लहसुन और प्याज के विषय में ऐसा कहा है कि "लहसुन—चिकना, गर्म और तीखा अर्थात् चरपरा, कटुरसयुक्त, भारी, छेदक वा रेचक, स्वादुरस, बलकारी, कामोद्दीपक, बुद्धि, स्वर, वर्ण और नेत्रों के लिये हितकारी, टूटी हड्डी के जोड़ने में हितकारी, हृदय के रोग पीड़ादि, जीर्णज्वर, कोख की पीड़ा, बद्धकोष्ठ

गुल्म रोग जो पेट में गोलाकार होता है, अरुचि, खांसी, और सूजन तथा दाद, पित्त की पीड़ा, कृमि, वायु, श्वास तथा कफसम्बन्धी रोगों को नष्ट करने वाला लशुन है अर्थात् ये गुण लहसुन में हैं। और प्याज के खाने से वीर्य में कुछ गर्मी, वायु का नाश, कटुरसकारी, तीखा, भारी, कुछ कफ का उत्पादक, बलकारी, पित्तवर्द्धक, क्षुधा को बढ़ाने वाला। ये गुण सामान्य कर प्याज में हैं। चिकना, रुचिकारी, धातुओं को स्थिर करना, बलकारी, बुद्धि कफ और पुष्टि को बढ़ाने वाला, स्वादिष्ठ, भारी लोहू और पित्त को सुधारने वाला और रसयुक्त लाल प्याज होता है। ये उक्त गुण लाल प्याज में होते हैं। जैसे कोई वस्तु कोमल वा गर्म हो तो विशेष गुणकारी होता वैसा गुणकारी गर्म होने पर तीक्ष्ण हो तो नहीं हो सकता किन्तु उस से रजोगुण की वृद्धि होती है। और रसयुक्त होने पर कटु होना भी वैसा ही रजोगुणकारी है। तथा भारी वा भेदक होना भी लहसुन के गुण सर्वहितकारी नहीं हैं किन्तु वातरोग वाले को हितकारी हैं पित्त वाले के लिये नहीं, उष्ण और तीक्ष्णतादि गुण भी पित्त को कुपित करने वा बढ़ाने वाले हैं। मैथुन की इच्छा को बढ़ानारूप गुण भी सर्वहितकारी नहीं है किन्तु कामी लोगों के लिये उपयोगी है परन्तु जितेन्द्रिय वा ब्रह्मचारी रहने वालों के लिये यह गुण अनिष्ट वा अनुपकारी—उन के नियम वा व्रत को बिगाड़ने वाला है। इत्यादि कई गुण इस में ऐसे हैं जो विशेष दशाओं में किसी २ को कुछ उपयोगी हो सकते हैं परन्तु जिन तपस्वी जितेन्द्रिय नीरोग स्वस्थ ब्राह्मणादि के लिये विशेष हितकारी लशुनादि नहीं किन्तु हानिकारक तो किसी प्रकार अवश्य हैं। बुद्धि आदि के वर्द्धक, स्वादुरस वा बलकारी होना आदि कई गुण इन लशुनादि में अच्छे हैं उन के रहने पर भी सत्त्वगुण का विघात करना उस में बना ही रहता है तो जो पुरुष उन गुणों को लेने के लिये लशुनादिकों का सेवन स्वीकार करेगा उस को उन के अवगुण के दोषों से दुःख वा हानि भी उठानी पड़ेगी। अर्थात् जिस अन्न में विष मिला हो उस को कोई पुरुष क्षुधा की निवृत्ति के लिये नहीं खाता। जिस धर्म के साथ कई अधर्म भी आ जावें उस का विना किसी विशेष दशा के ग्रहण वा सेवन नहीं करना चाहिये। इसी के अनुसार लशुनादि में गुण होने पर भी दोषों को साथ में आते देख कर निषेध किया। रहे गुण बुद्धिवर्द्धक आदि उस के लिये घृत दुग्ध वा मधु आदि अनेक स्वच्छ सत्त्वगुणी पदार्थ विद्यमान हैं जिन में

वैसी बुराई नहीं है । और लशुनादि में रोगनाशक कई गुण अवश्य अच्छे हैं इस लिये वातादि से होने वाले रोगों में उन का सेवन करना चाहिये । प्याज के गुण पूर्व लिख चुके हैं वह भी प्रायः लहसुन के तुल्य अच्छे बुरे गुणों वाला है । इस विषय में भावप्रकाशनामक चिकित्साग्रन्थ में भी लिखा है कि " एक अम्ल-रस को छोड़ कर पांच रस वाला होने से द्रव्यों के गुण जानने वालों ने लहसुन का नाम रसोन रक्खा है । जड़ में कडुआ पत्तों में तीखा नाल में कषेला नाल के अग्रभाग में लवण और लशुन के बीज में मीठा रस रहता है । लहसुन–ब-ढ़ाने वाला, मैथुनेच्छाकारी, चिकना, गर्म पाचक और भेदक है इत्यादि प्रकार से पूर्व के तुल्य गुण अवगुणकारी दिखाया है ॥

तथा प्याज के विषय में भी भावप्रकाश में विशेष यह लिखा है कि प्याज यवनों का इष्टभोजन, बुरे गन्ध से युक्त मुख को दूषित करने बाला तथा लशुन के तुल्य गुणों वाला भी है । पचने पर अच्छा चित्त करने बाला, गर्मी रहित कफकारी, कुछ पित्त करने वाला, केवल वातरोग का नाशक, भारी और बल वीर्य को बढ़ाने वाला है । गाजर के विषय में भी लिखा है कि गाजर पित्त को बढ़ाने, हृदय को पकड़ने और तीक्ष्ण नाम छेदक वा रेचक तथा रोगनाशक है । इत्यादि प्रकार से गाजर भी लहसुन आदि के तुल्य रजोगुण वर्द्धक, क्रोधादि का-रक और कामदेव का उत्तेजक है ऐसा समझ कर अभक्ष्य कोटि में रक्खा गया है । चौथा कवक वा छत्राक जिस को लोक भाषा में कुकुरमुता वा कठफूल कहते हैं । यह भी शीतल और भेदक है इस के विशेष खाने से विसूचिका होनी संभव है । कठफूल गाजर और प्याज आदि पकाने पर मांस के तुल्य कुछ २ भी प्रतीत होते हैं तथा लहसुन वा प्याज का गन्ध भी सब के अनुकूल ग्राह्य नहीं है । उन दोनों वस्तुओं के खाने वालों के मुख से जो गन्ध निकलता है उस को सब कोई सुगन्ध के तुल्य ग्रहण करने को उद्यत नहीं होते किन्तु अनेक लोग दुर्गन्ध के तुल्य असह्य मानते हैं इत्यादि कारणों से भी इन लशुनादि को अभक्ष्य कोटि में गिना है । पहिले धर्मशास्त्र बनाते समय पूर्व कहे अनेक कारणों से लहसुनादि के खाने का प्रचार भी नहीं था उसी के अनुसार उस समय के धर्मशास्त्रों में निषेध लिखा गया । इसी प्रकार इस समय प्रदेश भेद से अर्थात् पूर्व में लहसुन दक्षिण वा पंजाबादि में प्याज और मध्य प्रान्त में गाजर के खाने का प्रचार देख कर कोई खाने का विधान भी कर सकता है । परन्तु प्रचार अप्रचार मात्र को देख

कर विधि वा निषेध करना ठीक नहीं है किन्तु हानि लाभ आदि को देख कर विधान वा निषेध होना चाहिये । अनेक लोग यह भी कह सकते हैं कि जब लशुनादि में अनेक अच्छे गुण हैं तो उन को भक्ष्य क्यों नहीं ठहराया जाता और थोड़े अवगुणों से अभक्ष्य क्यों माने जाते हैं ?। इस का उत्तर यह है कि लशुनादि में जो गुण हैं उन को हम अवगुण नहीं ठहराते किन्तु वे गुण प्रायः रोगी पुरुषों के रोगनाश करने के लिये उपयोगी हैं । और दोषों के होने से स्वस्थदशा में कि जब कोई रोग नहीं तब निषेध किया जाता है । तथा एक बात यह भी है कि लशुनादि को स्वस्थसंरक्षण में नहीं गिनाया गया इत्यादि कारण से हम ने भी इस के निषेध का कारण दिखाया है । ऐसे लालमरिच भी भेदक वा रजोगुण-वर्द्धक वातघ्न और क्षीणता करने वाली होने से उस के भक्षण का निषेध कर सकते हैं अर्थात् स्वस्थदशा की रक्षा के लिये घृतादि के तुल्य लालमिरिच का भी कुछ उपयोग नहीं इस से वह भी अभक्ष्य है । परन्तु अभक्ष्यशब्द का वैसा अर्थ नहीं समझना चाहिये जैसा कि इस समय अनेक लोग समझते हैं कि जिस के खाने से मनुष्य पतित हो जाता है किन्तु जिस के खाने से किसी प्रकार का दुःख हो वा कुछ हानि हो वा किसी अन्य को दुःख पहुंचे वह पदार्थ अभक्ष्य है। लालमिर्च वातघ्न है इस कारण वातप्रकृति वाले को विशेष उपकारी जानो । और पित्त वाले वा स्वस्थ के लिये भेदक वा वीर्यादि को क्षीण करने वाली है इस लिये उस को भी अभक्ष्य ठहरा सकते हैं । परन्तु उस के भक्षण से मद्यादि के तुल्य कोई पतित नहीं हो सकता । इसी प्रकार लहसुन आदि के खाने वाले भी पतित नहीं होते। किन्तु उन लहसुन आदि के प्रायः खाने से रजोगुण बढ़ता है । इस कारण उन लहसुन आदि के प्रायः खाने का ही निषेध है किन्तु नैमित्तिक रोगादि में नहीं । रोग में तो ओषधि के समान सेवन करनाही उचित है। इस अभक्ष्यप्रकरण में लहसुन आदि उदाहरणमात्र उपलक्षण हैं कि इस प्रकार के गुण वाले पदार्थ स्वस्थदशा में मनुष्यों को नहीं खाने चाहिये किन्तु परिगणन नहीं है कि इतने ही पदार्थ अभक्ष्य हैं । इस से यह आया कि वेदादिशास्त्र पढ़ने वा वेदोक्तधर्मयुक्त कर्मों का सेवन करने वाले ब्राह्मणादि द्विजों के स्वर-दूषक, सत्त्वगुणनाशक वा रजोगुण तमोगुणवर्द्धक जो कोई गिनाये हुए लहसुन आदि से भिन्न भी शाक, मूल, कन्द, फल वा पुष्पादि वस्तु हों उन को अभक्ष्य कोटि में रखना चाहिये। यहां उदाहरण (नमूना) मात्र दिखा दिया है। क्योंकि

सत्वगुण के ठीक होने पर ही सुख उत्पन्न होता और मुख्य कर धर्म का फल सुख ही है इस से भक्ष्याऽभक्ष्य का धर्म के साथ सम्बन्धयुक्त ही है ॥

इस अध्याय के छठे श्लोक में गव्यपेयूष (गाय की गिजरी) के खाने का निषेध किया है और आठवें श्लोक में दश दिन से पहिले गौ के दूध का निषेध है। इन में से पहिले में अग्नि के संयोग से कठिन हो जाने वाली गिजरी का निषेध है और प्रायः सात दिन तक दूध फटता वा गिजरी होती है उन दिनों में तो अवश्य ही वह त्याज्य है क्योंकि उस में बहुत दिन की गर्मी वा मलीनता का विकार जुड़ा रहता है इस कारण उस का विशेष निषेध है। और आठवें पद्य में गौ उपलक्षणमात्र है। इस से दश दिन के भीतर भैंस बकरी आदि का दूध न फटने पर भी त्याज्य है। इस प्रकार इस प्रकरण में भोज्य वा पेय-पीने योग्यादि पदार्थों में से उदाहरणमात्र कई को अभक्ष्य कहा है। विशेष व्याख्यान वहीं होगा। अब इस से आगे प्राणियों के शरीर से होने वाले मांस के विषय में भक्ष्याभक्ष्य का विचार किया जायगा ॥

अथ मांसभक्ष्याभक्ष्यविचारः ॥

सर्वं मांसं हिंसाजनकत्वादभक्ष्यम्। हिंसा चाधर्मो यस्य हिंसारूपस्याधर्मस्य वर्णनं महच्च दुःखफलं बहुषु वेदादिशास्त्रेषु बाहुल्येन वर्णितम्। तस्यात्र सङ्ग्रहकरणं पिष्टपेषणवत्प्रतिभाति। अस्मिन्नपि मानवे शास्त्रे सिद्धान्तपक्षे मांसप्रतिषेधावसरे हिंसारूपमधर्मं पुरस्कृत्यैव प्रतिषेधः प्रदर्शितः। अहिंसा च परमो धर्म इत्यपि शास्त्रेषु वर्णितमेव। तथा चोक्तमस्मिन्नेव धर्मशास्त्रे—

"नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम्।
प्रसमीक्ष्य निवर्त्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥२॥"

इत्थं मांसभक्षणं निषिद्धं महच्च दुष्कर्म सर्वैस्त्याज्यमिति सामान्येनायं सिद्धान्तयुक्तो विचारः ॥

अथ विशिष्टो विचारः—यदि कश्चिद् ब्रूयाच्चिकित्साशास्त्रे मांसभक्षणस्य बहवो गुणाः प्रदर्शितास्तदर्थं भक्षणं कार्यमेव स प्रत्युच्यते। चिकित्साशास्त्रकारैर्हिंसायाः प्रतिषेधोऽपि नहि दर्शितः। नैव तद्धर्मशास्त्रं यथा व्याकरणाच्चौर्यव्यभिचारादयः शब्दा अपि निष्पद्यन्ते। नैव तत्र धर्मशास्त्रवदाज्ञा दीयते चौर्यकरणं धर्मोऽधर्मो वास्ति। एवमत्रापि चिकित्साशास्त्रे धर्माधर्मयोर्विवेचनं नास्ति। यथा स्तेयकर्मणा प्राप्तमप्यन्नं क्षुन्निवृत्तिं करिष्यति तथैव मांसमपि भक्षितं सापेक्षान् गुणाऽगुणान् करोतु। तेन मांसस्य हिंसादोषदुष्टत्वं नैव व्याहन्यते। अयमाशयः—ये क्षुन्निवारणमत्या स्वशरीरपोषणमनीषयैव वा धर्माऽधर्मयोर्विवेचनं विहाय स्वभावत इव सामान्येन सर्वजन्तुमांसभक्षणे प्रवृत्तास्तदर्थोऽयं सङ्कोचः। तैरपि तादृशं मांसं न भक्षणीयं येन तदानीमेवावगुणजन्यं दुःखं स्यात्। यद्वा क्वाप्यापत्कालेऽन्यत्प्राणरक्षणाय भक्ष्यं किमपि नो स्यात्तदापि विवेकेन मांसभक्षणं कार्यं न सामान्यतः। यद्यौषधार्थं पराधीनतया क्वापि मांसं सेव्यमेव स्यादन्यथा तद्रोगनिवृत्तिर्दुर्लभा चेत्तदा च वैद्यकशास्त्रोक्तविवेचनपुरस्सरं मांसं भक्षणीयं हिंसा तूभयथा भविष्यत्येव ॥

क्रव्यादान् शकुनीन्सर्वांस्तथा ग्रामनिवासिनः। इत्यादिपरिगणनेन येषां मांसस्य भक्षणं प्रतिषिद्धं ततोऽन्येषां भक्षणमर्थादापद्यते तत्रेत्थं बोद्धव्यम्। गवादयः सदैव मनुष्योपकारकाः पशवस्तु कदापि केनापि नैव भक्षणीयास्तेषां भक्षणेन महती कृतघ्नता हानिश्चोपजायते। ये चात्र तत्सदृशा भक्ष्या इत्यर्थादापद्यते तत्रापि नायं विधिरपितु सङ्कोचवाक्यान्येतानि। यश्चासौ सामान्यतया

मांसभक्षणाय प्रवर्त्तते तस्य सर्वथा निषेधः कथमपि काश्चिदपि मांसभक्षणाप्रवृत्तिं न कारयति। किन्त्वनया युक्त्या भक्षणनिषेधः सम्भवति। यथा कश्चिद्यावत्पापमाचरति ततोऽर्द्धं चतुर्थांशं वा कया चिद्युक्त्याऽऽचरेत्तदाधिकपाप्यपेक्षया स प्रशस्तो भविष्यति। यथाऽकरणान्मन्दकरणं श्रेय इति जनश्रुतिः सम्यगस्ति तथैव बहुपापाचरणादल्पपापाचरणं श्रेय इत्यपि वक्तुमुचितमेव। अयं च प्रवृत्तेः सङ्कोचप्रकारोऽत्रैव नास्त्यपितु बहुषु श्रेष्ठपुस्तकेषु दृश्यते। तथा च योगशास्त्रस्य साधनपादे—जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्। अर्थात् काश्चिद्गवादिजातिं महोपकारिकां ब्राह्मणादिकं वा न हन्यात्कस्मिंश्चिद्देशे काले समये वा हिंसा न कर्त्तव्येति कथनेनाविशेषतया जात्यादिषु हिंसां कर्त्तुं प्रवृत्तस्य प्रवृत्तिर्ह्रासमापद्यते। इत्थमेवंभूतानि शास्त्रीयवाक्यानि हिंसाया मांसभक्षणस्य निवर्त्तकानि नतु विधायकानीति। तथैव पञ्चपञ्चनखा भक्ष्या इत्यत्र पस्पशाह्निकस्थमहाभाष्ये कैयटः—अर्थित्वाद्भक्षणं प्राप्तं पञ्चसु पञ्चनखेषु नियम्यमानः सामर्थ्यादन्येभ्यो निवर्त्तते। नत्वयं विधिरप्राप्तेरभावात्। अर्थादप्राप्तस्य विधानं कर्त्तुं शक्यते–इदमित्थं कार्यम्। यच्च प्राप्तमेव नैव तस्य विधानं कर्त्तुमुचितमस्ति। यथा केनचिन्नैत्यिकं विशिष्टं मद्यपानं सात्मीकृतं स चान्नस्येव तस्य त्यागं कर्त्तुमक्षम इति। यदि त्यजेत्तदा मरणमेव स्यात्। एवं सात्मीकृतस्य मांसस्यापि यत्र त्यागः कष्टसाध्योऽसाध्यो वास्ति तत्र प्रवृत्तिशैथिल्याय जात्यादिनियमेन कथनमपि सङ्कोचपरत्वात्सुखकरमेवास्तीत्याशयः॥

अत्र केचिद्ब्रुवन्ति—यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवधः ॥ १ ॥

अतो यज्ञे पशुमांसहोमाय पशवो हन्तव्याः शिष्टं च हव्यं मांसादिकं भक्षणीयमेव। एवं च मनुस्मृतावन्येष्वपि बहुषु निबन्धेषु विधानं दृश्यते तस्माद्यज्ञे हिंसा नास्ति तत्र मांसभक्षणमप्यदूषितम्। अतएव "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" इत्यपि कस्यचित्कथनं चरितार्थं वेदादिशास्त्रानुकूलं च सम्पद्यते! अयं च मांसभक्षणप्रतिपादकानां प्रबलः पूर्वपक्षः ॥

अत्रोच्यते—अयुक्तमेतत्कथनं यज्ञे मांसभक्षणप्रतिपादनं मांसभक्षकैरेव क्रियते यज्ञश्च तेषां व्याजमात्रः किन्तु मांसभक्षणदोषाणामाच्छादनार्थो व्यवधानमात्रो यज्ञस्याश्रयः। नायं साधुः पन्थाः—तथाचोक्तं महाभारतस्य शान्तिपर्वणि मोक्षधर्मपर्वणि—

अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।
संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता ॥१॥
सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद्विहिंसन्ति बहिर्वेद्याम्पशून्नराः ॥२॥
तस्मात्प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता ॥३॥
सुरा मत्स्याः पशोर्मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्त्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम् ॥४॥
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्।
विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः ॥५॥
तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा।

तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया ॥६॥
अहिंसा सकलो धर्मो हिंसाऽधर्मस्तथाऽहितः ।
सत्यन्तेऽहं प्रवक्ष्यामि यो धर्मः सत्यवादिनाम् ॥७॥

स्पष्टमेतन्नैव विशिष्टं व्याख्यानमपेक्षते सिद्धमनेन यदत्र मानवधर्मशास्त्रे पुरा महाभारतनिर्माणावसरे यज्ञार्थः पशुवधो मांसभक्षणविधिश्च नासीदपित्वनन्तरं कैश्चिदत्र प्रक्षिप्तम् । नचायं मनोः सिद्धान्तः किन्तु केनापि कदापि हिंसा न कार्या हिंसाकरणं सर्वथा सर्वदाऽधर्मएवेति सिद्धान्तः । अतएव "सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।" इत्येतत्कथनं सङ्घटते। व्यासेनाप्युक्तम्—"सर्वथा सर्वदासर्वभूतानामनतिद्रोहोऽहिंसा" अहिंसायाः परमधर्मत्वं च सर्वानुमतमस्ति। यच्चोक्तं वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति तस्यायमाशयः—राज्ञा दुष्टास्तस्करा दस्यवादयो हन्तव्याः। आततायी च सर्वैर्हन्तव्यः। सर्पवृश्चिकसिंहादयोऽपि सर्वैर्वध्याः । इयमेव वैदिकी हिंसाऽस्ति । यस्मादेतेषां मारणाय वेदादिशास्त्रेषु विधानं क्रियते तस्मादियं वैदिकी हिंसास्ति । यद्यप्येषां मारणेऽपि दोषोऽस्ति तेषां प्राणवियोगकारणात् । तथापि तेषां वर्त्तमाने यावाननुपकारो जायते यावच्च तेषां मारणेनान्येषां सुखोत्पादात्पुण्यमुत्पद्यते तावन्मारणे पापं नास्तीति कृत्वा वैदिकी हिंसा हिंसा न भवतीत्युक्तम्—यच्च सर्वज्ञनारायणेन मनुभाष्यकृतोक्तम्—"लोकस्य भूत्यै जन्मने आहुत्या सूर्याप्यायनवृष्टिबीजपरम्परया शुक्रोत्पत्तौ प्राण्युत्पादात् । एतेनैकपशुहिंसयाऽनेकप्राणिनिस्ताराताद्दृशदोषाभाव उक्तः" नैवेयं युक्तिः सम्यगुपपद्यते यतो मांसहोमो वृष्टेः कारणं न सम्भवति प्रत्युत निरोधकं भवति । तथा चाकाशे तापाधिक्याद्वृष्टिरुत्पद्यते वह्नौ

तापाधिक्यं घृतादिना सम्भवति नतु मांसेन। प्रज्वलितेऽग्नौ मांसप्रक्षेपेणाग्नेः सम्यग्ज्वलनमप्यसम्भवम्। कथञ्चित्स्याद्घृतादिना तदा मांसज्वलनाद्दुर्गन्ध उत्थास्यति तथा च तादृशगुणविशिष्टायां वृष्टौ सत्यां तादृशगुणका ओषध्यादयो जायमानाः प्राण्यनुपकारा एव भविष्यन्ति। यदि घृताद्यभावेन मांसमात्रस्य होमः कार्यसाधकः स्यात्तदा सर्वज्ञनारायणकथनं सङ्गच्छेत तत्त्वाशामोदकायितमेव। अतः कारणाद्वैदिकीहिंसाया उक्तमेव प्रयोजनमवगन्तव्यम्॥

मांसभक्षणं घृणायुक्तमप्यस्ति। यथा रुधिरादिभ्यो घृणोत्पद्यते तथैव सज्जनानां मांसादपि घृणा जायते रुधिरादेव मांसस्य निष्पन्नत्वात्। अतएवैकादशेऽध्याये प्रायश्चित्तप्रसङ्गे मानवेऽस्मिन् शास्त्रउक्तम्—

"यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।"

अर्थाद्यैर्मद्यं मांसं च खाद्यते त एव यक्षा राक्षसाश्चेति वक्तुं शक्यते। अतएव मांसभक्षणं कर्म रजस्तमसोः प्रवर्त्तकं सत्त्वस्य विघातकं चास्ति। येन च मांसं खाद्यते तस्य मद्यपानप्रवृत्तिरपि जायते तयोः सतोरेव मैथुनाद्यापि विशिष्टतया प्रवर्त्तते तथा सति धर्मार्थमोक्षैर्वियुज्यते क्षीणतादिजन्यं दुःखं च महदाप्नोति। तस्मादपि मांसभक्षणं निकृष्टपरिणामजनकम्। धर्ममाचरता मनुष्येणात्मौपम्येन सर्वस्य सुखं दुःखं च प्रतीक्षणीयम्। नैव कश्चित्स्वस्य मांसं सिंहादिभ्यो दातुमुत्सते यथेच्छति मदीयं मांसं कोऽपि सिंहादिर्न खादेत्तथैव स्वयमपि कस्यापि मांसं भक्षयितुं मनो न कुर्यात्। इत्थमेवाचरणं धर्मानुकूलमतो विपरीताचरणमधर्मोऽतो मांसभक्षणं नास्ति धर्मः। एवं केनापि कदापि मांसभक्षणं न कार्यमयमेव

धर्मः । आपत्काले च यदामिषभक्षणमन्तरेण निर्वाहो भवितुं न शक्नोति तदा पूर्वोक्तविवेकेन मांसं भक्षणीयम् । तदपि मांसत्यागापेक्षया श्रेष्ठं नास्त्यपित्वविशेषप्रवृत्यपेक्षया जात्यादिभेदेन प्रवृत्तिरल्पपापापगुणयोः प्रवर्त्तिकास्तीति वेदादिशास्त्रस्य सिद्धान्तः ॥

अब मांसभक्षण विषय में बिधि वा निषेध का विचार किया जाता है:—हिंसा को उत्पन्न करने वाला होने से सभी मांस अभक्ष्य है । हिंसा एक अधर्म है कि जिस हिंसारूप अधर्म और बड़े दुःखफल का वर्णन बहुत वेदादिशास्त्रों में प्रायः किया है । उस का इस में संग्रह करना पिष्टपेषण के तुल्य जान पड़ता है । इस मनुस्मृति में भी मांस के निषेधरूप सिद्धान्त में हिंसारूप अधर्म को लेकर ही मांस का निषेध दिखाया है । और अहिंसा को परमधर्म मानना भी शास्त्रों में लिखा ही है । सो इसी धर्मशास्त्र में कहा है—"प्राणियों को मारे विना कहीं कभी मांस उत्पन्न नहीं हो सकता । तथा प्राणियों का वध करना कल्याणकारी नहीं इस से मांसभक्षण छोड़ देना चाहिये । मांस की उत्पत्ति और प्राणियों के वध बन्धन को बिचार कर सब प्रकार के मांसभक्षण से रहित हो जाना चाहिये" इस प्रकार मांस खाना बुरा काम होने से सब को त्याज्य है यह सामान्य कर सिद्धान्तयुक्त विचार है कि मांसभक्षण अच्छा काम नहीं ॥

अब विशेष बिचार यह है कि यदि कोई कहे कि चिकित्साशास्त्र में मांसभक्षण के बहुत गुण दिखाये हैं इस कारण मांसभक्षण कर्त्तव्य ही है । इस का उत्तर यह है कि वैद्यकशास्त्र वालों ने हिंसा का निषेध भी नहीं किया कि मांस खाने में हिंसारूप अधर्म नहीं है । और वे चिकित्सासम्बन्धी ग्रन्थ धर्मशास्त्र नहीं हैं जैसे कि व्याकरणशास्त्र से चोरी व्यभिचारादि शब्द भी सिद्ध किये जाते हैं परन्तु बहां धर्मशास्त्र के तुल्य आज्ञा नहीं दी जाती कि चोरी करना धर्म वा अधर्म है । इसी प्रकार यहां वैद्यकशास्त्र में भी धर्म अधर्म का विवेचन नहीं है। जैसे चोरी करके प्राप्त हुआ अन्न भी क्षुधा की निवृत्ति करेगा । वैसे ही हिंसारूप अधर्म से उत्पन्न हुआ मांस भी खाने पर किसी की अपेक्षा न्यूनाधिक गुण अवगुण करो इस से मांस का अधर्म दोष नाम हिंसारूप दोष से ग्रस्त होना नहीं छूटता अर्थात् दोष अवश्य बना रहता है । अभिप्राय यह है कि जो लोग धर्म अधर्म का विचार छोड़कर स्वभाव से ही क्षुधा के निवारणार्थ वा अपने शरीर

को पुष्ट करने की बुद्धि से सामान्य कर सब जन्तुओं का मांस खाने के लिये प्रवृत्त होते हैं उन के लिये वैद्यकशास्त्र में एक प्रकार का सङ्कोच दिखाया गया है कि वे लोग भी वैसे जीवों के मांस को न खावें जिस से खाते ही समय अवगुण हो कर दुःख होवे। क्योंकि सर्वथा मांसभक्षण से बचना सम्भव नहीं तो उस गिरती हुई दशा में भी ऐसा उपाय बताना चाहिये जिस से कुछ कम ही दुःख भोगने पड़े। अथवा कभी आपत्काल में जब प्राणरक्षा के लिये अन्य कुछ भी भक्ष्य न मिल सके तब भी वैद्यकशास्त्र में लिखे अनुसार विचार के साथ गुणकारी और जिस से संसार का कम अनुपकार हो ऐसा मांस खाना चाहिये। प्रयोजन यह है कि पशु आदि की अपेक्षा मनुष्य के प्राण की रक्षा रहना अधिक उपयोगी है। इस कारण मांस से ही प्राण बचते हों तो आपत्काल में ऐसा करे। अथवा पराधीनता से ओषधि के लिये कहीं मांस खाने ही पड़े अन्यथा उस रोग की निवृत्ति होना यदि दुर्लभ हो तो चिकित्साशास्त्र में कहे विवेक पूर्वक मांसरूप औषध के सेवन से रोग की निवृत्ति करनी चाहिये। रहा हिंसारूप दोष सो तो दोनों पक्ष में होगा चाहें गुण अवगुण का विचार किया जाय वा नहीं। तो ऐसी दशा में भी जितना विचार हो सके वही अच्छा है॥

कच्चा मांस खाने वाले वा ग्राम के निवासी पक्षियों को छोड़ देना चाहिये इत्यादि श्लोकों में जिन २ पशुपक्षी आदि के मांसभक्षण का निषेध किया है उन से भिन्न पशुआदि के मांसभक्षण का विधान अर्थापत्ति से प्राप्त होता है। इस विषय में ऐसा जानना चाहिये कि मनुष्यादि के विशेष उपकारी दुग्ध घृतादि से अनेक प्रकार मनुष्यों के रक्षक गौ आदि पशुओं का तो कदापि किसी को मांस नहीं खाना चाहिये क्योंकि उन के खाने से बड़ी कृतघ्नता और हानि होती है। इसी कारण इस प्रकरण में गौ आदि उपकारी पशुओं के विषय में विशेष विधि निषेध कुछ नहीं किया गया किन्तु उन के आश्रित होने से सर्वथा रक्षा ही कर्त्तव्य है। और जो निषिद्ध पशुपक्षियों के सदृश अन्य पशुपक्षी भक्षण के विधान में आते हैं वहां भी ये विधिवाक्य नहीं किन्तु संकोच हैं। जो वह सामान्य कर मांसभक्षण के लिये प्रवृत्त है उस का सर्वथा निषेध करना किसी प्रकार मांसभक्षण की प्रवृत्ति को कुछ भी नहीं हटाता अर्थात् जो पुरुष सब प्रकार का मांस प्रत्येक समय विशेष कर खाने में प्रवृत्त है उस को कहा जाय कि तुम मांस खाना सर्वथा छोड़ दो तो एक साथ छूटना असम्भव होगा। किन्तु इस युक्ति से

कहा जाय कि अमुक २ देश काल वा समय में तथा अमुक २ गौ आदि जाति का मांस न खाना चाहिये। रहे शेष उन का खाना भी विहित नहीं कि खाना ही चाहिये। क्योंकि विधिवाक्य वहां रहते हैं कि जहां उस काम वा वस्तु का अभाव हो। वह मनुष्य तो स्वयमेव मांस खाने में प्रवृत्त है। उस के लिये किसी जाति आदि का निषेध करना वा किसी जाति आदि का नियम करना कि इन्हीं का खाना उचित है अर्थात् इन से भिन्न का मांस न खाओ ये दोनों प्रकार उस को मांस खाने की प्रवृत्ति कम करने के लिये हैं। और कम होने पर धीरे २ उस का छूटना भी सम्भव है। जैसे कोई जितना पाप करता है उस से आधा वा चतुर्थांश किसी युक्ति से करने लगे तो अधिक पापी की अपेक्षा वह प्रशंसित माना जावे गा। जैसे लोक में यह कहावत प्रसिद्ध है कि "न करने से थोड़ा करना भी अच्छा है" वैसे ही अधिक पाप करने की अपेक्षा थोड़ा पाप करना अच्छा है। यह प्रवृत्ति को कम करने का प्रचार यहीं हो सो नहीं किन्तु अनेक श्रेष्ठ पुस्तकों में दीखता है। जैसे पातञ्जल योगशास्त्र के साधनपाद में लिखा है कि "गौ आदि जाति, पाठशालादि देश, पर्वदिनादि काल और पूर्वाह्णादि समय में हिंसा न करे वा मांस न खावे। क्योंकि गौ आदि बहुत उपकारी जीव हैं उन को कभी न मारे इस कथन से जो सामान्य कर जाति आदि में हिंसा करने के लिये प्रवृत्त है उस की प्रवृत्ति कम हो जाती है। इस प्रकार ऐसे शास्त्रीय वाक्य हिंसा और मांसभक्षण की निवृत्ति करने वाले हैं। किन्तु विधायक नहीं। तथा "पांच नख वालों में से पांच जीव भक्ष्य हैं" इस महाभाष्य के कथन पर कैयट ने प्रथमाह्निक में ही लिखा है कि "मांसाहारी लोग लोभी हो कर मांस खाते हैं [जैसे कि चोर लोगों को चोरी करने में स्वभाव पड़ जाता है और वे दूसरों के पदार्थों को प्रति समय ताका करते हैं] इस से उन में मांस खाना स्वयमेव प्राप्त है कि वे सभी जीवों का मांस खाने के लिये अपने स्वभाव से प्रवृत्त होते हैं। पांच नख वाले पांच जीवों में नियम कर देने से अन्य के मांस खाने से बच जाता है किन्तु यह विधि—आज्ञावाक्य नहीं है कि पांच जीवों का मांस खाना चाहिये। क्यों कि विधिवाक्य वहां कहने पड़ता है जहां उस काम का अभाव हो। जब मांसाहारी स्वयमेव सामान्य कर सब जीवों का मांस खाने में प्रवृत्त हैं तो उस की आज्ञा देना व्यर्थ है। जैसे कोई नित्य २ विशेष मद्यपान करता है और उस ने मद्य के पीने को एक स्वाभाविक आहार बना लिया

हो तो वह अन्न के तुल्य उस का त्याग नहीं कर सकता । जो छोड़े तो मरण ही हो जावे । ऐसे ही स्वभाव पड़े हुए मांस का भी त्याग जहां कष्टसाध्य वा असाध्य है । वहां मांस खाने की प्रवृत्ति को कम करने के लिये जाति आदि के नियम से कहना संकोच परक होने से सुखकारी ही है यह आशय है ॥

इस विषय में कोई लोग कहते हैं कि मनुस्मृति में लिखा है "यज्ञ के लिये परमेश्वर ने स्वयमेव पशु बनाये हैं । यज्ञ में मारने से सब का कल्याण होता है इस से यज्ञ में किया वध मारना नहीं अर्थात् निर्दोष है" । इस कारण यज्ञ में पशुओं को होम करने के लिये मारना चाहिये और होम से शेष बचा खाना भी उचित ही है । मनुस्मृति तथा अन्य पुस्तकों में ऐसा भी विधान दीखता है । इस कारण यज्ञ में हिंसा नहीं और वहां मांसभक्षण भी निर्दोष है । इसी कारण "वेदोक्तहिंसा हिंसा नहीं होती" यह किन्हीं का कथन वेदानुकूल और चरितार्थ होता है । मांसभक्षण के प्रतिपादक लोगों का यह पूर्वदर्शित एक बड़ा वा प्रबल पूर्वपक्ष है ॥

इस का उत्तर—यह पूर्वोक्त कथन अयोग्य है । यज्ञ में मांसभक्षण का प्रतिपादन मांसभक्षी लोगों ने ही किया है। उन लोगों का यज्ञ करना छलमात्र है । अर्थात् मांसभक्षण से जो पाप वा दोष लगते हैं उन को दबाने के लिये आड़मात्र यज्ञ का आश्रय लेना है। यह मार्ग कदापि अच्छा नहीं है कि यज्ञ में पशु मारे जावें और उन का होम से बचा मांस खाया जावे । महाभारत के शान्तिपर्वान्तर्गत मोक्षधर्मपर्व में लिखा है कि "मर्यादा को बिगाड़ने वाले मूर्ख संशयात्मा स्वार्थी दबी २ बातें करने वाले नास्तिक लोगों ने यज्ञ में हिंसा कर मांस खाने का विधान किया है ॥ १ ॥ यज्ञादि सब उत्तम कर्मों में धर्मज्ञ मनु जी ने अहिंसा को ही धर्म कहा है । स्वार्थी लोग मांस खाने के लोभ से यज्ञ में वा उस से पृथक् पशुओं को मारते हैं ॥२॥ इस कारण विचारशील मनुष्यों को अत्यन्त उचित है कि वेद प्रमाण का ठीक२ निश्चय करके [कि वेद में हिंसा है वा नहीं ?] सूक्ष्मधर्म का सेवन करना चाहिये । क्योंकि सब प्राणियों के लिये धर्म के सब लक्षणों से अति उत्तम अहिंसा धर्म माना गया है ॥३॥ यज्ञादि शुभकर्मों में मांसमद्यादि घृणित वस्तुओं का उपयोग धूर्त्त लोगों ने लगाया है किन्तु वेद में उस का विधान नहीं किया गया ॥ ४ ॥ मान अज्ञान और लोभ से दुराचारी लोगों ने यज्ञ में मांसमद्यादि खाने, चढ़ाने की कल्पना की है। और श्रेष्ठ ब्राह्मण

लोग सब यज्ञों में एक परमेश्वर की ही उपासना मानते हैं ॥५॥ किसी ब्राह्मण ने कई लोगों से सुने जाने के अनुसार यज्ञ में हरिण मारने की इच्छा की थी उस के बड़े भारी सञ्चित तप में विघ्न पड़ गया अर्थात् तप खण्डित हो गया। इस से हिंसाकर्म यज्ञ के योग्य नहीं अर्थात् यज्ञ में हिंसा न होनी चाहिये ॥ ६ ॥ अहिंसा समस्त धर्म और हिंसा करना केवल अधर्म वा अहितकारी है। इस कारण मैं प्रतिज्ञा के साथ कहता हूं कि सत्यवादियों का बड़ा धर्म अहिंसा ही है॥

इस पूर्वोक्त कथन से सिद्ध हो गया कि पहिले महाभारत बनते समय इस मनुस्मृति में यज्ञ के लिये पशुओं का मारना वा मांस खाने की विधि भी नहीं थी किन्तु पीछे किन्हीं लोगों ने प्रक्षिप्त किया है कि यज्ञ में पशुओं को मारना चाहिये। यह मनु का सिद्धान्त नहीं है किन्तु किसी को कदापि हिंसा नहीं करनी चाहिये हिंसा करना सर्वथा और सब काल में अधर्म ही है। इसी कारण "सब कर्मों में धर्मात्मा मनु जी ने अहिंसा को ही श्रेष्ठ कहा है" महाभारत का यह पूर्वोक्त कथन सङ्घटित होता है। योगभाष्य में व्यास जी ने भी कहा है कि "सब प्रकार सब काल में सब प्राणियों से द्रोह न करनारूप अहिंसा ही परम धर्म है। और अहिंसा का परमधर्म होना सर्वसम्मत है। और जो यह कहा था कि वेदोक्तहिंसा हिंसा नहीं उस का आशय यह है कि राजा वा अन्य धर्मरक्षक लोगों को उचित है कि दुष्ट, चोर, डाकू, वा जो अपने मारने को शस्त्र ले कर सामने आता हो उस को तथा सांप, बीछू और सिंहादि हिंसक प्राणियों को मार डालें यही वेदोक्तहिंसा है क्योंकि इन को मारने के लिये वेदादि शास्त्रों में आज्ञा की गयी है इस से यह वेदोक्तहिंसा है यद्यपि इन चोरदुष्टादि के मारने में भी पाप है क्योंकि उन के प्राण का वियोग होने से उन को क्लेश पहुंचता है तो भी उन के बने रहने में जितना—जगत् का अनुपकार होता है और उस के मारने से अन्यों को सुख हो कर जितना पुण्य होता है उतना पाप उन के मारने में नहीं अर्थात् उन के मारने से जो पाप होता है उस की अपेक्षा पुण्य अधिक हो जाता है इस कारण वेदोक्तहिंसा को हिंसा नहीं माना किन्तु अहिंसा माना है ॥

और जो मनु के भाष्यकर्त्ता सर्वज्ञनारायण ने कहा है कि "यज्ञ करने से वृष्टि, वर्षा से ओषधि, अन्न और वीर्य की परम्परा से उत्पत्ति होने पर मनुष्यादि प्राणियों के शरीर बनते हैं। इस कारण एक पशु को मार कर यज्ञ करने से अनेक प्राणियों की उत्पत्तिरूप निस्तार हो कर पाप की अपेक्षा पुण्य बढ़ जाता है। इस

कारण यज्ञ की हिंसा को अहिंसा माना है" सो यह युक्ति इस कारण ठीक नहीं है कि जिस से मांस का होम करना वृष्टि का कारण नहीं बनता किन्तु किसी प्रकार वृष्टि का हानिकारक है। जैसे आकाश में ताप के अधिक बढ़ने से वर्षा होती है [इसी कारण ग्रीष्म ऋतु में अधिक ताप बढ़ने से वर्षा अच्छी होती] और घृतादि के अधिक पड़ने से अग्नि में तेज बढ़ता है किन्तु मांस से नहीं। जलते हुए अग्नि में मांस छोड़ने से जलना भी ठीक२ नहीं हो सकता किन्तु बुतजाना सम्भव है। कदाचित् घी आदि की सहायता से वा इन्धन के ठीक शुष्क होने से मांस जल भी जावे तो उस में से दुर्गन्ध उठेगा और वैसे दुर्गन्धगुणयुक्त वृष्टि के होने पर वैसे ही गुणों वाले उत्पन्न हुए ओषधि आदि पदार्थ प्राणियों के लिये अनुपकारी होंगे। यदि घी आदि के विना ही केवल मांस के होम से वर्षारूप कार्यसिद्ध हो जावे तो सर्वज्ञनारायण का कहना बन सकता है सो तो इच्छामात्र के लड्डू खाना है अर्थात् असम्भव है। जब घृतादि की सहायता विना मांस का होम कुछ भी उपकारी नहीं हो सकता तो वह उपकार घृतादि से हो सकना सिद्ध हो गया। इस कारण वेदोक्तहिंसा का पूर्वोक्त ही प्रयोजन जानना चाहिये। मांस खाना घृणित काम भी है। जैसे रुधिर आदि से घृणा होती वैसे बहुत विचारशीलों को मांस से भी घृणा रहती है क्योंकि दूध से दही के समान रुधिर से ही मांस बनता है। इसी कारण इस मनुस्मृति के प्रायश्चित्त-प्रकरण ग्यारहवें अध्याय में कहा है कि—"मद्यमांसादि घृणित वस्तु यक्ष राक्षस और पिशाचादि नाम वाले मनुष्यों का अन्न है" अर्थात् मद्यमांसादि के खाने वालों का ही राक्षसादि नाम है। इसी से मांसभक्षण कर्म रजोगुण तमोगुण का बढ़ाने वाला और सत्वगुण का नाशक है। जो मांस खाता है वह मद्य पीने को भी उद्यत होता और मद्यमांस के सेवन से मैथुन के लिये भी अधिक चेष्टा होती है। ऐसा होने पर धर्म, अर्थ और मोक्ष से विमुख हो जाता है। और क्षीणतादि से होने वाले बड़े२ दुःखों को प्राप्त होता है। इस से भी मांस खाना बुरा फल देता है। धर्म का आचरण करने वाले मनुष्य को अपने आत्मा के तुल्य सब को सुख देना चाहिये। जब कोई मनुष्य सिंहादि मांसाहारियों को अपना मांस देने को उद्यत नहीं होता। तो उस मनुष्य को भी अन्य जीवों का मांस कदापि न खाना चाहिये। जैसे सब कोई चाहता है कि मेरा मांस कोई सिंहादि न खावे वैसे ही आप भी किसी के मांस खाने को चित्त न करे ऐसा ही

आचरण धर्मानुकूल है इस से विपरीत को अधर्म जानो इस कारण मांसभक्षण करना धर्म नहीं है। इस उक्त प्रकार से सब गुण दोष विचार कर किसी को मांसभक्षण न करना चाहिये। यही धर्म और इस से विरुद्ध अधर्म है। आपत्काल में जब मांसभक्षण किये विना किसी प्रकार निर्वाह नहीं हो सकता हो तब पूर्वोक्त विचारपूर्वक मांस खाना चाहिये। यह भी मांस की आज्ञा नहीं किन्तु पूर्वोक्त प्रकार संकोचपरक वाक्य है। अर्थात् मांस त्यागने की अपेक्षा यह संकोच भी श्रेष्ठ नहीं किन्तु सामान्य प्रवृत्ति की अपेक्षा जाति आदि के भेद से प्रवृत्त होना थोड़े पाप और बुराई का हेतु है यह वेदादिशास्त्रों का सिद्धान्त है। यद्यपि इस विषय पर पहिले भी उपोद्घात में कई अवसरों पर लिख चुके हैं कि विधि निषेध सिद्धानुवाद और अर्थवाद को उन्हीं २ के विचारानुसार लोग समझा करें किन्तु अर्थवाद वा सिद्धानुवाद को विधिवाक्य कोई न समझ लेवे। तथा अपवाद वा विशेष वचन सामान्य वा उत्सर्ग का हानिकारक नहीं होता। ऐसा उलटा समझ लेने वाला मनुष्य अपनी और अन्य मनुष्यों की हानि कर लेता है। जैसे कहा गया कि ऋतु समय में केवल अपने वर्ण की स्त्री के साथ गमन करना चाहिये यह सामान्य कर विधिवाक्य है। इस का अपवाद वा विशेष वचन यह होगा कि अमुक २ अवसर में ऋतु समय भी गमन न करे वा अमुक २ अवसर में ऋतु से भिन्न समय में भी गमन करे इस से वह सामान्य विधान खण्डित नहीं होता। तथा ऋतु समय में स्त्री से समागम करने की आज्ञा को जब प्रायः लोग तोड़ डालते हैं और नित्य समागम करने में तत्पर होते हैं उन को ऋतु समय का उपदेश कुछ भी कार्यसाधक नहीं होता किन्तु वे कदापि ऐसा नहीं कर सकते कि नित्य के भोजन को छोड़ कर महिने भर में एक वार खावें तो ऐसी दशा में तीसरे चौथे वा आठवें दिन मैथुन का उपदेश किया जाय तथा किन्हीं २ पर्वादि तिथियों में निषेध किया जाय तो सम्भव है कि वह निवाह ले। यह मैथुन का उपदेश नित्य की अपेक्षा विशेष सुख और कम हानिकारक होगा। परन्तु इस कथन से सामान्य वचन जो ऋतु समय में भार्यागमन का विधान है सो कटता नहीं है अर्थात् ऋतु समय में गमन करने की अपेक्षा तीन चार आदि दिन के अन्तर से करना भी बुरा है। परन्तु नित्य की अपेक्षा अच्छा है। इसी प्रकार मांसप्रकरण में भी समझना चाहिये कि मांस का सर्वथा त्याग करना यही मुख्य आज्ञा है। और जो स्वयमेव उस में अधिक प्रवृत्त है उस को कम वा

कभी खाने का उपदेश इस लिये नहीं कि मांस खाने की आज्ञा दी जावे वा मांस के निषेध का खण्डन किया जावे । इस प्रसङ्ग में इतना लौट २ इसी लिये लिखा है कि कोई विरुद्ध ऐसा न समझ लेवे कि इन्हों ने मांस खाने की आज्ञा दी वा उस को अच्छा माना हो । किन्तु सिद्धान्त पर ध्यान देना चाहिये ॥

अथ द्रव्यसूतकयोः शुद्धिमालोचयिष्यामः । अस्मिन्नाशौचप्रसङ्गे प्रथमां प्रेतशुद्धिं शावमाशौचमिति वा वदन्ति । तच्चाशौचं शोकहेतुकं शोकश्च प्रियेष्टवियोगात्तारतम्येन सर्वैरनुभूयते। यदा केनापि कारणेन मनो देहाकृतिश्च ग्लानिमृच्छति तदेवाशुद्धेर्लक्षणमस्ति। मृते च कस्मिंश्चित्पित्रादिसम्बन्धिनि स्वत एव ग्लानिरुत्पद्यते । ग्लानीभूतैश्च मनोवाग्देहादिभिः पवित्रीभूतैर्मनोवाक्कायैरनुष्ठेयानि कर्माणि सिद्धानि भवितुं नार्हन्तीत्याशौचस्यावधिः क्रियते। यावता कालेन यज्जन्य शोकस्य निवृत्तिर्भविष्यतीति विद्वद्भिरनुमितं तावानाशौचस्य कालः प्रतिपादितः । यद्ययमवधिर्न स्यात्तदा सामान्यलौकिकजना नावधारयेयुः कियता कालेन शोको निवारणीयः सत्येव वा शोके स्वस्थबुद्धिसाध्यानि कर्माण्यारभमाणाः कार्यसिद्धिं प्राप्नुयुरिति नास्ति सम्भवम् । अतः शोकरूपस्याशौचस्य निर्णयार्थं सामान्यतया ब्राह्मणादीनां समयावधिः कृतः—तथा चोक्तमस्मिन्नेव मानवधर्मशास्त्रस्याशौचप्रकरणे:—

विप्रः शुध्येद्दशाहेन द्वादशाहेन भूमिपः ।
वैश्यः पञ्चदशाहेन शूद्रो मासेन शुध्यति ॥

अत्र ज्ञानस्य तारतम्याच्छोकावधेस्तारतम्यमस्ति । अतएव ब्राह्मणस्य सर्वेभ्यो विशिष्टं ज्ञानमिति कृत्वा दशाहानि रक्षितानि। शूद्रश्चान्यवर्णापेक्षया ज्ञानहीनस्तस्य मासेन त्रिगुणकालेन शोकनिवृत्तरूपमाशौचं रक्षितम् । शोकनिवृत्तेरन्तिमदिने च गृहशरीरवस-

नादीनां विशिष्टा शुद्धिः कार्या सापि मनःप्रसादहेतुत्वाच्छोकनिवारिका सम्भवति । तदानीमेव कुटुम्बिन एकीभूय भोजनादिकं च कुर्युः । अन्येभ्यश्च सुपात्रब्राह्मणेभ्यो यथाशक्ति दानं दद्युः । अनेनापि कार्यान्तरासक्तचेतस्त्वाच्छोकनिवृत्तिः सम्भवति । दानादिकं च शुभं धर्म्यं कर्म भाविशुभफलजनकमिति कृत्वा सेव्यमेव । इयं च दशाहाद्यवधिका सामान्योत्सर्गरूपाऽशुद्धिरुक्ता सा चासति विशेषे तथैव सर्वैः सेव्या । अन्ये चास्यैवापवादाः । यथोक्तम्—

दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयते ।
अर्वाक् सञ्चयनादस्थ्नां त्र्यहमेकाहमेव वा ॥

अत्रैते विकल्पा विशेषदशासु सद्यः शौचार्थाः । कुत्रचिज्ज्ञानस्यातिप्राबल्यात्सद्यः शोकनिवृत्तिः सम्भवति तेन नैव शोकः कार्यः । कुत्रचिन्मृतः प्राण्येव विशिष्टशोकार्हो नास्ति तत्रापि सद्यः शौचं शोकनिवृत्तिश्चापेक्ष्यते । यथा कस्यचिद्विवाहस्य समय आगतः सर्वाणि च साधनान्यन्नपानादीनि सञ्चितानि यदि नियतकालमतिक्रामेत्तदा सर्वं भोज्यादिकं विनष्टं स्याद्यद्वा समयान्तरे तद्विवाहादिकार्यमेव केनापि कारणेन न सम्भवेत्तदा सद्य एव शौचं कृत्वा तद्विवाहादिकमपि कर्त्तव्यम् । कुत्रचित्साद्यस्के बाले विशिष्टप्रीतेरभावाच्छोकोऽप्यल्पः सम्भवति तदानीं सद्यः शौचं कार्यमित्यादिप्रकारेण लोकव्यवहारसिद्धये शावाशौचं निर्णीतम् । ननु मृतोद्देशेन तदानीं कर्त्तुं युज्यते । अस्य च विचारः श्राद्धविचारप्रकरणे दर्शितः । सन्निकृष्टबान्धवानां यावान् शोकः सम्भवति न च तावान् विदेशस्थानां तैश्च मृतस्य प्राणत्यागो दाहादिकं चेन्द्रियगोचरं नैव क्रियते । अतएव तेषां न्यूनमाशौचमुक्तम् । सपिण्डादन्येषामपि शोकः सपिण्डापेक्षया

न्यूनः सम्भवत्यतएव तत्रापि न्यूनमेवाशौचमुक्तम् । यानि चाशौचस्य दिनानि रक्षितानि तेषु यथा यथा नियमाः सेवनीयास्ते चास्मिन्नेव प्रकरणेऽक्षारलवणान्नाः स्युरित्यादि नोक्ताः। विशेषश्च भाष्ये द्रष्टव्यः ॥

इयं च मृतानन्तरं जायमानाऽशुद्धिरुक्ताऽग्रे सूतकविषये किञ्चिदुच्यते । सूतकशब्दो जननाशौचस्य वाचकः । सूङ् प्राणिगर्भविमोचन इत्यस्माद्धातोर्निष्पन्नत्वात् ।

"सर्वेषां शावमाशौचं मातापित्रोस्तु सूतकम् ।
सूतकं मातुरेव स्यादुपस्पृश्य पिता शुचिः ॥"

नवमासेषु सञ्चितं मलं योनिमुखान्निस्सरति—तस्माद्विशेषतया दशाहावधि मातुरेवाशौचमित्युक्तम् । पिता तु जातकर्मणि बालं स्पृशति तदनन्तरं स्नानं कृत्वा शुद्धो भवति । तथापि सूतिकां तत्सन्निकृष्टानि वस्तूनि वा कार्यवशाद्ये सम्बन्धिनः स्पृशन्ति तेऽपि संसर्गदोषात्कथञ्चिदशुद्धा भवन्ति । अतएव सामान्यतया सर्वैः सूतकाशौचं कार्यम् । शावाशौचेन साकमस्य महान् विशेषः । तत्राशौचकारणं शोकोऽत्र तु मालिन्यमानन्दश्च कारणमस्ति । अर्थात्सूतकाशौचमल्पतरमेवास्ति ॥

द्रव्यशुद्धेः पूर्वमत्र शारीरमाशौचमभिहितम् । द्रव्येषु नाना विधानां सामान्यविशेषवस्तूनां शुद्धिरुक्ता । न चात्र कस्याश्चिज्जातेः स्पर्शमात्रेणाशुद्धिरुक्ता। न च पाकशालाऽन्येन केनापि स्पृष्टा सत्येवाशुद्धा भवतीति लोकप्रचरितं धर्मशास्त्रानुकूलमस्ति किन्तु घृणितेन पुरुषेण वस्तुना वा स्पृष्टमशुद्धमवश्यं भवति । यतो हि मनसि ग्लानिरुत्पद्यते बुद्धिश्च प्रसन्ना न भवति तदमेध्यम् । स्थान-

वस्त्रशरीरादीनां सर्वैः सर्वदा शुद्धी रक्षणीया परन्तु नैतया कृतकृत्या जना भवितुमर्हन्ति। योऽर्थे शुचिः स शुचिर्न मृद्वारिशुचिः शुचिः।

अत्रार्थशौचस्य प्राधान्यं प्रतिपाद्यते नतु मृद्वारिभ्यां जायमानायाः शुद्धेः प्रतिषेधे तात्पर्यमस्ति। दानादानादिः सर्वो व्यापारो यस्य छलकपटादिरहितोस्ति यः कस्यापि विश्वासघातं न करोति सोऽर्थे धनादिव्यवहारे शुचिरित्युच्यते। जलादिनाशोधकेनान्तःकरणस्य मनसो जीवात्मनश्च शुद्धिर्भवितुमशक्येति कृत्वा तयोः शुद्ध्यर्थमन्य एव यत्नः प्रदर्शितः। ज्ञानंतपोऽग्निराहार इत्यादिना शुद्धेर्दशकारणानि दर्शितानि। विशेषो भाष्ये द्रष्टव्यः॥

भाषार्थः—अब द्रव्य और सूतकशुद्धि का कुछ विचार किया जाता है। इस आशौचप्रकरण में पहिली प्रेतशुद्धि अर्थात् किसी के मरने पर जो अशुद्धि मानी जाती है। वह आशौच शोक से होता है। जहां अपने किसी प्रिय वा इष्टमित्रादि का मरणरूप वियोग होता है। वहां प्रीति और मित्रतादि के न्यूनाधिक होने से सब को शोक भी न्यूनाधिक होता है। जब किसी कारण से मन और शरीर की आकृति को ग्लानि प्राप्त होती है उस को अशुद्धि का सामान्य लक्षण जानो। किसी पिता आदि अपने सम्बन्धी के मरने पर मनुष्य के चित्त में स्वयमेव ग्लानि और शोक उत्पन्न हो जाता है और मन वाणी तथा शरीर के मलीन शोकातुर होने पर शुद्ध पवित्र वा प्रसन्न मन वाणी और शरीरों से सेवने योग्य शुभ कर्म ठीक सिद्ध नहीं हो सकते। उन का अनध्याय रखने के लिये और सर्वसाधारण को अपनी शोकदशा जताने के लिये कि हम ऐसी दशा में हैं। हम से सब कोई ऐसा व्यवहार न करें जैसा प्रसन्न दशा में करना योग्य है इत्यादि विचार से शोक के दिनों की अवधि और उन दिनों में अपनी विशेष दशा [कुशादि के आसन पर पृथिवी पर बैठे रहना खट्टिया पर न सोना न लेटना स्त्री के पास न जाना सुगन्धि आदि न लगाना आदि] रखनी चाहिये। पहिले हुए विचारशील ऋषि महर्षि लोगों ने विचारपूर्वक अनुमान किया कि इतने काल में शोक की निवृत्ति हो सकेगी उतना काल अशुद्धि का बताया गया। यदि यह अवधि अर्थात् शोक रखने

की सीमा न की जाती तो साधारण लौकिक मनुष्य निश्चय न कर पाते कि कितने काल में शोकनिवृत्त करनी चाहिये। अथवा शोक के बने रहते ही स्वस्थबुद्धि से होने योग्य कामों का आरम्भ करते हुए कार्यसिद्धि को प्राप्त हों यह सम्भव नहीं है। इस कारण शोकरूप अशुद्धि के समय का निर्णय करने के लिये सामान्य कर ब्राह्मणादि वर्णों के पृथक् २ समय बांधे। सो मानवधर्मशास्त्र के इसी प्रकरण में कहा है कि "ब्राह्मण दश दिन, क्षत्रिय बारह दिन, वैश्य पन्द्रह दिन और शूद्र एक मास में शुद्ध होता है" ज्ञान के न्यूनाधिक होने से ब्राह्मणादि में न्यूनाधिक दिनों तक शुद्धि की अवधि रक्खा है। ब्राह्मण वर्ण के सब से अधिक ज्ञानवान् होने से उस का शोक शीघ्र निवृत्त हो सकता है इसी कारण उस के लिये सब से कम दश दिन अशुद्धि रक्खी। और अन्य तीनों वर्ण की अपेक्षा शूद्र अधिक अज्ञानी होता इस कारण उस को एक महिने भर अशुद्धि मानने को कहा गया [आज कल प्रायः प्रान्तों में चारो वर्ण में दश ही दिन की अशुद्धि मानी जाती है यह प्रचार वर्णव्यवस्था के ठीक न रहने से विगड़ा है अर्थात् शास्त्र से विपरीत चल गया है सो ठीक नहीं है] शोकनिवृत्ति के अन्तिम दिन में घर शरीर और वस्त्रादि की विशेष शुद्धि करनी चाहिये। उस से भी मन की प्रसन्नता होने से शोक की निवृत्ति होना सम्भव है। उसी समय कुटुम्बी लोग एकत्र हो कर भोजनादि करें तथा अन्य सुपात्र ब्राह्मणों को भी उस समय यथाशक्ति दान दक्षिणा देवें। इस से द्वितीय अच्छे धर्मसम्बन्धी कार्य में लगने से शोक की निवृत्ति होना सम्भव है। और दानादिक भी धर्मयुक्त शुभकर्म है भविष्यत् में उस से अच्छा फल होगा इस कारण अवश्य सेवने योग्य है। यह दश आदि दिनों में सामान्य कर उत्सर्ग रूप शुद्धि दिखायी है। अन्य वचन इसी के अपवाद वा बाधक माने जावेंगे। जैसे कहा कि सात पीढ़ी वालों को मरणानन्तर दशदिन अशुद्धि माननी चाहिये तथा कहीं कभी चार तीन और एक दिन में भी शुद्ध हो सकते हैं। यहां ये सब विकल्प इस लिये दिखाये गये हैं कि विशेष दशाओं में शीघ्र शुद्धि कर लेने के लिये हैं अर्थात् जहां जैसी आवश्यकता पड़े वहां वैसी शुद्धि कर लेनी चाहिये। कहीं ज्ञान के अतिप्रबल होने से शीघ्र ही शोकनिवृत्ति हो सकती है उस को शोक नहीं करना चाहिये। कहीं मरा हुआ प्राणी ही विशेष शोक करने योग्य नहीं वहां भी शीघ्र ही शोक की निवृत्ति हो सकती है। कहीं शीघ्र शुद्धि न करने में विशेष हानि देख कर शीघ्र शुद्धि और शोक की निवृत्ति करनी

चाहिये जैसे किसी के विवाह का समय आ गया और सब अन्नपानादि पदार्थ भी जोड़ लिये गये कि जिन का व्यय होगा ऐसे समय में किसी का मरण हो जावे और पूरी अशुद्धि मानने में विवाह का नियत समय निकल जावे तो सब भोज्य वस्तु बिगड़ जाना सम्भव है अथवा समय टल जाने से वह विवाहादि कार्य ही किसी कारण पीछे न हो सके तो ऐसी दशा में शीघ्र ही शुद्धि करके वह विवाहादि कार्य भी करना चाहिये । कहीं तत्काल के उत्पन्न हुए बालक के मर जाने पर उस में विशेष प्रीति के न हो पाने से शोक भी न्यून होगा ऐसे समयों में शीघ्र शुद्धि करनी चाहिये । तथा इसी ग्रन्थ मनुस्मृति में न्यायाधीश राजा के लिये आज्ञा है कि वह उसी समय शुद्ध हो जावे न्याय कभी बन्द न हो । युद्ध में अशुद्धि नहीं लगती इस प्रकार से लोक के व्यवहार की सिद्धि के लिये मृतक अशुद्धि का निर्णय किया गया है किन्तु मृतक को जन्मान्तर में फल पहुंचाने के उद्देश से कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है । इस का विशेष विचार श्राद्धसम्बन्धी विचार के प्रकरण में दिखा चुके हैं । समीप रहने वाले भाई बन्धुओं को मृतक का जितना शोक होता है उतना विदेशस्थों को नहीं होता । विदेश में रहने वाले बन्धु मरने वाले के प्राण त्याग को और उस के जलाने आदि को अपनी आंखों से नहीं देखते । इसी कारण उन विदेशस्थों को मृतक का संसर्ग न होने और शोक के कम होने से अशुद्धि भी उस के लिये कम कही गयी है । समीपी सगे और सात पीढ़ी वालों की अपेक्षा अन्य कुटुम्बियों को भी शोक कम होता है इस लिये उन को भी कम शौच बताया गया है । और जो अशुद्धि के दिन रक्खे गये हैं उन दिनों में जैसे २ नियम सेवने वा जो २ वर्त्ताव करना चाहिये वे "खार लवणादि न खावें" इत्यादि प्रकार इसी प्रकरण में कहे हैं । विशेष विचार भाष्य में देखना चाहिये ॥

यह मरण के पश्चात् हुई अशुद्धि कही गयी आगे सूतकविषय में कुछ कहते हैं । सूतकशब्द उत्पत्ति में होने वाली अशुद्धि का वाचक है क्योंकि सूतक शब्द उत्पत्ति अर्थ वाले सूधातु से बना है इसी प्रकरण में लिखा है कि "मरणसम्बन्ध की अशुद्धि सब कुटुम्बियों को लगती परन्तु जनने की अशुद्धि केवल माता पिता को ही लगती है । उस में भी माता विशेष कर अशुद्ध रहती है पिता तो जातकर्म किये पश्चात् स्नान करके शुद्ध हो जाता है" नव महिनों का जुड़ा हुआ मेल योनि द्वारा निकलता इस कारण विशेष कर दशदिन माता को ही अशुद्धि कही गयी है, तो भी सूतिका और उस के पास के वस्त्रादि को जो २ स्त्री पुत्रादि छूते हैं

वे भी संग के दोष से किसी प्रकार अशुद्ध होते हैं इसी से सामान्य से उन सब को शुद्धि करनी चाहिये। मृतक अशुद्धि और सूतक में बहुत भेद है। मृतक दशा में विशेष कर अशुद्धि का कारण शोक है परन्तु यहां सूतक में मलीनता और आनन्द दोनों अशुद्धि के कारण हैं। अर्थात् सन्तान की उत्पत्ति का एक बड़ा आनन्द होता है और अधिक आनन्द की प्राप्ति में मनुष्य का चित्त ठीक स्वस्थ और व्यवस्थित नहीं रहता इस से विशेष कार्य ठीक २ नहीं हो सकते। इस कारण अनेक कार्यों का अनध्यायरूप अशुद्धि मानी है। परन्तु जनने की अशुद्धि छोटी है॥

इस ग्रन्थ में द्रव्यशुद्धि से पहिले शरीर की शुद्धि पर कुछ कहा गया है। द्रव्यों में अनेक प्रकार के सामान्य विशेष वस्तुओं की शुद्धि कही गयी है। परन्तु इस प्रकरण में किसी जाति वा समुदाय विशेष के स्पर्शमात्र से अशुद्धि नहीं दिखायी गयी और किसी के छू लेने से चौका आदि की अशुद्धि भी नहीं कही इस से लोक में प्रचरित ऐसी अशुद्धि धर्मशास्त्र के अनुकूल नहीं है। परन्तु घृणित मनुष्य वा वस्तु के छूने से अशुद्धि अवश्य होती है इसी से चाण्डाल का स्पर्श करना लोक में निषिद्ध है। जिस से मन में ग्लानि और बुद्धि की अप्रसन्नता हो वह अशुद्ध है। घर वस्त्र और शरीरादि की सब को सब समय शुद्धि रखनी चाहिये परन्तु इस शुद्धि से मनुष्य का कल्याण नहीं हो सकता लिखा है कि "जो भीतर मन से शुद्ध है वही शुद्ध है किन्तु मट्टी जल से शुद्ध हुआ शुद्ध नहीं" यहां मन शुद्धि की मुख्यता दिखायी है किन्तु मट्टी जल से शुद्धि करने के निषेध में अभिप्राय नहीं। लेन देन आदि सब व्यवहार जिस का छलकपटादि रहित है वा जो किसी का विश्वासघात नहीं करता वह अर्थ नाम धनादि के व्यवहार में शुद्ध कहा जाता है। जल आदि बाहरी शुद्धि के हेतुओं से मन और जीवात्मा की शुद्धि नहीं हो सकती इस कारण उन की शुद्धि के लिये अन्य ही यत्न दिखाया गया है। ज्ञान तप और अग्नि आदि बारह शुद्धि के कारण दिखाये हैं। विशेष विचार भाष्य में देखना चाहिये॥

अथ पञ्चमाध्यायस्थप्रक्षिप्तपद्यसमीक्षणारम्भः॥

अत्र प्रारम्भे चत्वारि पद्यानि प्रक्षिप्तानि प्रतीयन्ते। तथैव व्यूलरसाहवेनाप्युक्तम्। शिष्यशिक्षकाभ्यामन्येन तृतीयेन केनाप्युक्तमिति स्पष्टमेव प्रतीयते तथा प्रश्नोत्तरे अपि युक्तियुक्तेनैव दृश्येते।

यदा च वेदशास्त्रविदां स्वधर्ममनुतिष्ठतामित्युक्तं प्रश्ने पुनरुत्तरेऽनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनादित्येतत्कथनं नैव सम्भवति। ये स्वधर्ममनुतिष्ठन्ति नैव त आचारं वर्जयन्ति ये चाचारं न सेवन्ते ते स्वधर्मसेविनोऽपि भवितुं नार्हन्ति। आचारोऽपि सर्वेषां स्वस्यैव धर्मोऽस्ति नान्यस्य। ये वेदशास्त्राणि विदन्ति नैव तेषां वेदानभ्यासो वक्तुं शक्यते। इदं च कथनं वदतो व्याघातवत्—आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे इतिवद्वा प्रतिभाति। उत्पत्तिधर्मकमनित्यमिति नैयायिकसिद्धान्तमाश्रित्य जगत्युत्पन्नानां प्राणिनां मृत्युरवश्यं भविष्यति कोऽस्ति तस्य वारयिता। यद्यल्पमृत्युः कथं भवतीति तात्पर्यमस्ति तथाऽक्षराणि न सन्ति। मनुष्याः पूर्णायुषः कथं न भवन्तीति प्रश्नो युक्तः स्यात्। तस्योत्तरं तु सर्वमिदं धर्मशास्त्रमेव सम्भवति नहि लशुनादयो मांसादयश्च पदार्था अल्पायुषो निमित्तभूता भवितुमर्हन्ति। नहि लशुनादीनां मांसादीनां वा भक्षका एवाल्पायुषो दृश्यन्ते किन्तु तद्वदन्येऽपि दुराचारिणोऽल्पज्ञाः शरीररक्षोपायानजानन्तोऽल्पायुषो भवन्ति। तस्मादेतदध्यायस्यादिमानि चत्वारि पद्यानि प्रक्षिप्तानि सन्ति। षोडशं चापि पद्यं प्रक्षिप्तं प्रतिभाति। यदा च यज्ञे सर्वमांसमात्रं दुष्टं त्याज्यमधर्मजनकं चेति प्रमाणैर्युक्त्या च प्रतिपादितम्। पुनः पाठीनरोहितयोर्हव्ये कव्ये च नियोगः प्रामादिकः स्वार्थसाधकश्चेति। राजीवानित्याद्युत्तरार्द्धमस्य पद्यस्यासम्बद्धमप्यस्ति। नैव तत्स्थपदानां क्वापि सम्बन्धो दृश्यते। स्याच्चेत्कथमपि सम्बन्धस्तथापि मांसं हव्यं कथमपि न भवितुमर्हति तस्मात्क्षिप्तम्। अग्र ऊनविंशतिपद्यात्त्रयोविंशतिपद्यावधि पञ्च श्लोकाः प्रक्षिप्ताः। तेष्वाद्यास्त्रयस्तु व्यूलरसाहबेनापि क्षिप्ताए-

वेत्युक्तम् । लशुनादीनामभक्ष्यत्वमादावेवोक्तमित्यतः पुनरुक्तत्वात् प्रक्षिप्तमनुमीयते। पद्यद्वये च प्रायश्चित्तमभिहितं तच्च प्रकरणविरुद्धं पुनरुक्तं च । किन्त्वेकादशेऽध्यायेऽभक्ष्यभक्षणस्य सामान्येन विशेषतया च प्रायश्चित्तानि दर्शितान्येव तत्रैव च तस्य प्रकरणमस्ति। द्वाविंशंत्रयोविंशं सप्तविंशं च पद्यं यज्ञे पशुवधार्थमित्यतः क्षिप्तं प्रतिभाति । यज्ञे मांसभक्षणं महद्दुष्कर्मेति पूर्वमेव प्रमाणैर्युक्त्या चोपपादितम् । अग्रे त्रिंशत्तमपद्यादारभ्यद्वाचत्वारिंशत्तमपद्यावधि त्रयोदश श्लोकाः प्रक्षिप्ताः प्रतिभान्ति। परमेश्वरेण भक्ष्या भक्षकाश्च प्राणिनः सृष्टा इत्यतः कारणाद्यदि दोषो नास्ति तर्हि पापं पुण्यं च सर्वमीश्वरेण सृष्टं पुनः पापाचरणे क्वापि दोषेण न भाव्यम् । एवं सति सर्वाणि धर्मशास्त्रस्थादीनि कर्त्तव्याऽकर्त्तव्योपदेशकानि विधिनिषेधपराणि वाक्यान्यनर्थकानि स्युस्तस्मात्प्रामादिकमेतत् ॥

अग्रे मांसस्य यज्ञार्था प्रवृत्तिर्दर्शिता तस्याश्च दुष्टत्वं दर्शितमेव। विशेषश्च भाष्ये द्रष्टव्यः। अतोऽग्रे षट्पञ्चाशत्तमं पद्यं क्षिप्तं प्रतिभाति। अत्र केचिद्वदन्ति सामान्येनायं सिद्धानुवादो नतु मांसादिभक्षणस्य विधायकं वाक्यम्। इदं च धर्मशास्त्रं द्विजातिधर्म्यकर्म प्रतिपादनार्थम्। अहिंसासत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुरिति वचनमनुसृत्य हिंसा मनुष्यमात्रेण न कार्या सत्यां च हिंसायां मांसमुत्पद्यते । तथासति मांसभक्षणं मनुष्यमात्रेण नैव कार्यम्। सुरा द्विजातिभिर्न पातव्येत्येकादशे निषिद्धा । मैथुनं विवाहविधाने तृतीयेऽध्याय उक्तम् । अवशिष्टशूद्रपश्वादीनां स्वभावद्योतकं पद्यमिदं तेषामपि निवृत्तिरेभ्यो महाफलेति। इदं समाधानं कस्मिंश्चिदंशे सम्भवति न सर्वथा। ये ये दोषा

अत्रायान्ति नैव तेषां सर्वेषां समाधानमुक्तप्रकारकप्रयासेनापि सम्भवति । यद्यपि सिंहव्याघ्रादीनां मांसभक्षणं स्वाभाविकं कर्मास्ति तथापि मद्यपानं पश्वादीनां कर्म नास्ति । शूद्रादीनामपि स्वाभाविकं न दृश्यते । यथाचान्नस्य भक्षणं सर्वदा प्राणिमात्रेण क्रियते । केनाप्याहारेण विना मनुष्यस्य प्राणयात्रा न सम्भवति । अतएवाहारः स्वाभाविको नतु मद्येन कस्यापि निर्वाहो भवितुमर्हति । न च सर्वे प्रायशो वा मद्यपानं कुर्वन्ति । ये च पिबन्ति तेषामपि मद्यपाननिषेधेन धर्मशास्त्रकारैरुद्धारः कार्यः । ये च स्वयमेव प्राकृतिकरागेण मांसमद्यमैथुनेषु प्रवृत्तास्तेषां न मांसभक्षणे दोष इत्यादि कथनं मांसादिभक्षणस्य प्रवृत्तिवर्द्धनेन नाशाय भवति । तत्र तु मांसभक्षणे महान् दोषः केनापि कदापि मांसं न भक्ष्यं मद्यं न पेयम् । निषिद्धमैथुनं च त्याज्यमित्यादिप्रकारेण कथनमेवोपकारकम् । अतः प्रक्षिप्तमेतत् केचित्सर्वज्ञनारायणादयो भाष्यकारा दोषशब्दात्पूर्वं लुप्ताकारं प्रश्लेषयन्ति—तथा च मांसभक्षणे—ऽदोषो न किन्तु दोष एव । एवं मद्यादिष्वपि । क्लिष्टकल्पनमेकदेशिकथनमिदम् । एवं सति निवृत्तिस्तु महाफलेति कथनमपि न सङ्गच्छते । यस्मिन्क्रियमाणे दोषस्तस्मिन् त्यक्ते पुण्यफलमित्यर्थादेवापन्नं भवति । केचिद्विहितानां मांसमद्यमैथुनानां दोषाभावं प्रतिपादयन्ति यथा—ऋतौ भार्यामुपेयादिति मैथुनाय विधिवाक्यमस्ति नैवं वेदादिषु मांसमद्ययोर्विधानमस्ति । सौत्रामण्यां सुरां पिबेदिति विध्याभासो नायं विधिः । यथाऽऽपत्काले क्वापि कदाचिन्मांसभक्षणं प्राणरक्षार्थमपेक्ष्यते । नैवमापत्काले मद्येन प्राणरक्षा कर्त्तुं शक्यते । अतो मद्यमांसयोर्यदा विधानमेव नास्ति पुनस्तत्र दोषाभावकथनमपि नैव सङ्गच्छते । यदि

मांसादीनां विधानमपि स्यात्तदा तस्य विधानमात्रेणैव दोषाभावः सिध्यति पुनरेतत्कथनं पुनरुक्तत्वात्प्रक्षिप्तमेवेत्यलमनल्पजल्पनात् ॥

अग्रे षण्णवतिसप्तनवतिपद्यद्वयं च प्रक्षिप्तम् । नायमर्थवादः साधुरपितु प्रजानां परिरक्षार्थमासनं चात्र कारणमिति चतुर्णवतिपद्ये सम्भवितोऽर्थवाद उक्त एव । चन्द्राग्न्याद्यंशैः सर्वप्राणिनां शरीराणि निर्मितानि भवन्ति तस्मात्कारणाद्यद्याशौचनिषेधो राज्ञः स्यात्तदा सर्वेषां भवितुमर्हति। अतः प्रक्षिप्तं पद्यद्वयमिदम् । अग्रे पञ्चविंशं शतं पद्यं प्रक्षिप्तं प्रतिभाति । यदि द्रवं सूपशाकपायसश्राणादिकं वस्तु पक्ष्यादिभिः किमपि जग्धं तदातु तस्मिन् मृत्प्रक्षेपेण पूर्वापेक्षयाप्यधिकमभक्ष्यत्वं भविष्यति नहि मृदामिश्रितं वस्तु कश्चिद्भोक्तुमुत्सहते। यदि शुष्कस्य कस्यापि वस्तुनोंशः पक्ष्यादिभिर्दूषितस्तदा दूषितांशमेव पृथक् कृत्वा शुद्धं भवितुमर्हति न तु मृत्प्रक्षेपेणेति। नैव कश्चिन्मृत्प्रक्षेपमात्रेणोक्तदोषस्य शोधनं श्रद्धातुमर्हति तस्मात्प्रक्षिप्तमेतदिति । अग्रे एकत्रिंशं शतमपि पद्यं प्रक्षिप्तं श्वामृगग्रहणे शुचिरित्यनेन ततः पूर्वपद्यस्थवाक्येनोपलक्षकेनोक्तत्वात् पुनरुक्तमेतत् । मनुरब्रवीदित्येतत्कथनं मनुवाक्ये संदेहं कारयति । यदा च सर्वमेव मनूक्तम्—तदैतस्य कथने नैव काचिद्विशिष्टा प्रतिपत्तिरस्ति। अग्रे सप्तत्रिंशं शतमपि पद्यं प्रक्षिप्तमस्ति। गृहस्थ आधिक्येनाशुद्धो भवति नैव तथा ब्रह्मचारिवनस्थयतयोऽशुद्धा भवन्ति। अतस्तेषां गृहस्थादपि न्यूनाऽशुद्धिरुचिताऽस्ति। मलमूत्रादौ च यादृशो गन्धो मालिन्यं च गृहस्थस्यास्ति तादृशमेवान्येषामपि पुनर्नास्ति कारणमन्येषामधिकशौचस्य तस्मात् प्रमादकृतमन्येन प्रक्षिप्त-

मिदं पद्यम् । इत्थमस्मिन्नध्याये एकोनषष्ट्युत्तरशतपद्येषु त्रिंशत्पद्यानि प्रक्षिप्तानि शिष्टान्येकोनचत्वारिंशदधिकशतानि च शुद्धानि ॥

भाषार्थः—अब पांचवें अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार किया जाता है। यहां प्रारम्भ में चार श्लोक प्रक्षिप्त हैं और ब्यूलर साहब ने भी पञ्चमाध्याय के प्रारम्भ में पहिले चार श्लोक प्रक्षिप्त माने हैं। इस पुस्तक के बनने में भृगु उपदेशक और मरीच्यादि ऋषि श्रोता हैं तो ये चार श्लोक उन दोनों शिष्य शिक्षकों की ओर से नहीं बन सकते। क्योंकि उन में लिखा है कि "उक्त प्रकार मरीच्यादि ऋषियों ने भृगु से स्नातक के धर्मों को सुन कर महात्मा भृगु से यह प्रश्न किया और भृगु ने उन ऋषियों को ऐसा उत्तर दिया" इत्यादि कथन अन्य किसी की ओर से स्पष्ट प्रतीत होता है। तथा प्रश्नोत्तर भी युक्तिपूर्वक ठीक नहीं हैं। जब पूछा गया कि वेद शास्त्र के जानने और अपने धर्म का सेवन करने वाले ब्राह्मणों का मृत्यु कैसे होता है ?। तो क्या यह उत्तर ठीक होगा ? कि वेदों का अभ्यास न करने और अच्छे आचरण के छोड़ देने तथा आलस्य और अभक्ष्यभक्षण से ब्राह्मणों को मृत्यु मार डालना चाहता है। जब पूछने वाला तो कहता है कि विद्वानों का मृत्यु कैसे होता है तो उत्तर देने वाला कहे कि विद्या का अभ्यास न करने से ज्ञानियों का मृत्यु होता है। यहां विचार का स्थल है कि जब वे विद्वान् और धर्मात्मा हैं तो वेद का अभ्यास और अच्छे आचरण तो अवश्य होंगे और न होंगे तो वे विद्वान् और धर्मात्मा नहीं हो सकते। क्योंकि श्रेष्ठ आचरण भी मुख्य कर धर्म का लक्षण है। इस कारण ये प्रश्नोत्तर अपने कहे को आप ही काटने वा कुछ पूछने पर कुछ उत्तर देने के तुल्य हैं। तथा एक बात यह भी विचारने योग्य है कि जो २ प्राणी संसार में उत्पन्न हुए हैं वे मरेंगे भी, जिस का जन्म है उस का मरण भी अवश्य होगा क्योंकि उत्पन्न होने वाले सभी घटपटादि पदार्थ भी अनित्य हैं यह न्याय का सिद्धान्त है इस के अनुसार जब विद्वान् अविद्वान् धनी निर्धनी सब का मरण अवश्य है तो प्रश्नोत्तर कैसे ठीक हो सकते हैं ?। यदि कोई कहे कि अल्पमृत्यु क्यों होता है ? यह पूछने का अभिप्राय है तो प्रश्नोत्तरसम्बन्धी वाक्यों में वैसे शब्द वा अक्षर नहीं पढ़े गये जिन से वह आशय निकलता। मनुष्यों की पूर्ण अवस्था क्यों नहीं होती बीच में क्यों मर जाते हैं ?। ऐसा प्रश्न ठीक होता परन्तु उस का उत्तर

केवल भक्ष्याऽभक्ष्य का विचारमात्र नहीं हो सकता किन्तु ऐसे प्रश्न का उत्तररूप ही यह सब धर्मशास्त्र है। लहसुनादि और मांसादि पदार्थ ही न्यून अवस्था होने के कारण नहीं हैं क्योंकि उन के खाने वाले थोड़ी अवस्था में मर जावें ऐसा नियम नहीं दीखता लशुनमांसादि में जो २ दोष हैं वे अन्य ही हैं। जैसे लशुनमांसादि के खाने वाले मरते हैं वैसे अन्य भी दुराचारी अल्पज्ञ और शरीर की रक्षा के उपायों को नहीं जानने वाले थोड़ी अवस्था में मरते हैं। इस कारण इस अध्याय के आरम्भ में चार श्लोक प्रक्षिप्त हैं॥

सोलहवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। जब यज्ञ में अधर्म का हेतु होने से सब मांस मात्र दुष्ट वा त्याज्य है यह बात प्रमाणों और युक्ति से सिद्ध हो चुकी फिर पाठीन और रोहूनामक मच्छियों का यज्ञ और श्राद्ध में लेने का उपदेश प्रामादिक तथा स्वार्थी लोगों का घुसेड़ा है। राजीवादि मच्छियों को इत्यादि इस श्लोक का उत्तरार्द्ध असम्बद्ध भी है क्योंकि उस के पदों का किसी के साथ सम्बन्ध नहीं दीखता यदि किसी प्रकार सम्बन्ध लग भी जावे कि राजीवादि को खाना चाहिये तो भी जब मांस, होमने योग्य वस्तु किसी प्रकार नहीं ठहर सकता और यज्ञ के बहाने विना खाना बनेगा नहीं इस लिये वह पूर्वोक्त इस अध्याय का सोलहवां श्लोक प्रक्षिप्त है॥

आगे उन्नीशवें श्लोक से तेईशवें श्लोकपर्यन्त पांच श्लोक प्रक्षिप्त हैं। उन में से पहिले तीन को व्यूलर साहब ने भी प्रक्षिप्त माना है। पहिले में लहसुन आदि को पुनर्वार अभक्ष्य कहा है सो छठे श्लोक में कह चुकने से पुनरुक्त हो गया इस से प्रक्षिप्त है। अगले दो पद्यों में प्रायश्चित्त कहा है सो प्रकरण से विरुद्ध और पुनरुक्त है किन्तु ग्यारहवें अध्याय में प्रायश्चित्त का प्रकरण है वहां अभक्ष्यभक्षण का सामान्य विशेष प्रायश्चित्त कहा है फिर यहां प्रायश्चित्त कहना पुनरुक्त है। आगे बाईश तेईश और सत्ताईशवां श्लोक यज्ञ में पशु मारने के लिये होने से प्रक्षिप्त प्रतीत होते हैं। यज्ञ के बहाने से मांसभक्षण करना बहुत बुरा काम है यह पहिले प्रमाण और युक्तियों से सिद्ध कर चुके हैं। आगे तीशवें श्लोक से बयालीशवें श्लोकपर्यन्त तेरह श्लोक प्रक्षिप्त जान पड़ते हैं। परमेश्वर ने भक्ष्य और भक्षक दोनों प्रकार के प्राणी बनाये हैं इस कारण यदि मांस खाने में दोष नहीं तो पाप पुण्य भी सब ईश्वर ने रचा है फिर पाप करने में दोषभी नहीं मानना चाहिये। यदि ऐसा हो कि पाप करने में भी दोष नहीं तो कर्त्तव्याऽकर्त्तव्य

का जिन में उपदेश है ऐसे विधिनिषेधपरक धर्मशास्त्रों के सब वाक्य व्यर्थ हो जावें गे इस लिये वह श्लोक प्रामादिक होने से प्रक्षिप्त है ॥

आगे इकत्तीशवें श्लोक से ले के यज्ञ के लिये मांस की प्रवृत्ति दिखायी है। उस की बुराई लिख ही चुके हैं विशेष भाष्य में देखना चाहिये। इस से आगे छप्पनवां श्लोक प्रक्षिप्त प्रतीत होता है इस पर किन्हीं लोगों का कथन है कि "सामान्य कर यह सिद्धानुवाद दिखाया गया है किन्तु मांस खाने की आज्ञा देने के लिये यह (न मांसभक्षणे दोषो०) श्लोक नहीं है। और यह धर्मशास्त्र ब्राह्मणादि द्विजों के धर्मयुक्त कर्मों का प्रतिपादन करने के लिये है। "अहिंसा,सत्य, चोरी का त्याग, पवित्रता और इन्द्रियों को वश में करना यह संक्षेप से चारो वर्ण को सेवने योग्य सामान्य धर्म मनु जी ने विशेष कर कहा है" इस प्रमाण के अनुसार मनुष्यमात्र को हिंसा नहीं करनी चाहिये। और हिंसा किये विना मांस उत्पन्न होता नहीं ऐसा होने पर मनुष्यमात्र को मांसभक्षण नहीं करना चाहिये। द्विजों को मद्य नहीं पीना चाहिये इस प्रकार ग्यारहवें अध्याय में निषेध किया है। और विवाहविचारप्रकरण के साथ तृतीयाध्याय में अयुक्त वा निकृष्ट नीच के साथ मैथुन का निषेध ब्राह्मणादि के लिये किया है। अब शेष रहे शूद्र और पश्वादि उन का स्वभाव जताने के लिये यह श्लोक है कि सिंहादि वा बिल्ली आदि का स्वभाव मांस खाने का है उन के लिये कोई दोष नहीं दिखाया गया। नीच अन्त्यज शूद्रादि का स्वभाव है कि वे मद्य पीते हैं और मैथुन भी सब में स्वाभाविक है परन्तु उन मांसभक्षणादि कर्मों से बचना वा निवृत्त होना उन शूद्रादि के लिये भी विशेष फलदायक है" इस प्रकार कोई लोग इस का समाधान करते हैं सो यह समाधान किसी अंश में सम्भव है सर्वथा नहीं क्योंकि इस विषय में जो २ दोष आते हैं उन सब का समाधान उक्त प्रकार परिश्रम करने से भी नहीं हो सकता। यद्यपि सिंहव्याघ्रादि का मांस खाना स्वाभाविक काम है। तो भी पश्वादि का काम मद्य पीना नहीं है और शूद्रादि का भी स्वाभाविक काम मद्यपीना नहीं दीखता। जैसे प्राणीमात्र अन्न का भोजन सदा करते हैं। किसी प्रकार का आहार किये विना मनुष्यादि के प्राणों की रक्षा कदापि नहीं हो सकती इसी कारण आहार स्वाभाविक है परन्तु मद्य से किसी के प्राण की रक्षा विना अन्य आहार के नहीं हो सकती तथा जैसे प्रायः सब मनुष्य अन्न खाते वैसे मद्य पीने वाले प्रायः सब प्राणी नहीं हैं और जो लोग मद्य पीते भी

हैं उन का भी मद्यपान का निषेध करके धर्मशास्त्रकारों को उद्धार करना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपनी २ उन्नति और सुख के साधन चाहता है तो धर्मशास्त्र का काम होगा कि वह सब को कल्याण का मार्ग बतावे और जिस में किसी समुदाय के लिये दुःख का मार्ग बतलाया जावे उस को विचारवान् विद्वान् लोग कदापि धर्मशास्त्र नहीं कह सकते। इस से सिद्ध हुआ कि मद्यपानादि सब के लिये बुरा काम है इसी कारण यह श्लोक धर्मशास्त्र की योग्यता से बाहर होने से प्रक्षिप्त है। जो लोग आप ही स्वाभाविक प्रीति से मांस मद्य और मैथुन के सेवन में प्रवृत्त हैं जिस से उन की मानस वाचिक और कायिक उन्नति में बड़ी बाधा पड़ चुकी वा पड़ रही है उन के लिये ऐसा उपदेश सुना देना कि ["न मांसभक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने" मांस मद्य और मैथुन के सेवन में दोष नहीं] विशेष कर गढ़े में गिराने वाला होगा। अर्थात् उन को ऐसा आश्रय मिल जाने से मांसमद्यादि को और भी अधिक सेवेंगे जिस से उन का बहुत शीघ्र नाश होगा। इस लिये धर्मशास्त्रों में उन के कल्याणार्थ ऐसे वचन हों कि मांसभक्षण वा मद्यपान करने में बड़ा दोष है किसी को नहीं करना चाहिये। इत्यादि प्रकार कहना उन के लिये कुछ उपकारी होगा। इस से यह (न मांसभक्षणे दोषो०) श्लोक अवश्य निस्सन्देह प्रक्षिप्त है॥

इस श्लोक में कोई २ सर्वज्ञनारायणादि भाष्यकार दोषशब्द से पूर्व लुप्त अकार की सन्धि मानते हैं कि मांसभक्षण में अदोष नहीं किन्तु अवश्य दोष है इसी प्रकार मद्यमैथुनादि में भी जानो सो यह उन लोगों की क्लिष्टकल्पना और एकदेशी कथन है अर्थात् यह बात सर्वसम्मत नहीं। तथा यह एक प्रकार का वाक्छल है। यद्यपि जो लोग मांसमद्यादि के सेवन करने की इच्छा से इस श्लोक को प्रमाणरूप ढाल बनाना चाहते हैं उन को उत्तर देने के लिये ऐसा अर्थ कर लेना उपयोगी है क्योंकि वे लोग इस को प्रक्षिप्त कदापि न मानेंगे परन्तु यह धर्मात्माओं की शैली से प्रतिकूल है। और मांसभक्षण में अदोष नहीं किन्तु दोष ही है ऐसा अर्थ करने पर अर्थापत्ति से सिद्ध हो गया कि मांसादि के छोड़ देने में अवश्य पुण्य है क्योंकि जिस के करने में दोष माना जाता है उस के त्याग में पुण्य फल होता ही है। इस कारण इस प्रकार की सन्धि निकालनेरूप पक्ष में निवृत्ति से महाफल दिखाना भी व्यर्थ है। किन्हीं २ मेधातिथि आदि भाष्यकारों की सम्मति है कि जिन २ मांसभक्षणादि का विधान है कि यज्ञ में मांसखाना,

सौत्रामणी यज्ञ में मद्यपीना और ऋतुकाल में अपनी स्त्री से गमन करना चाहिये। ऐसे मांस, मद्य और मैथुन के सेवन में दोष नहीं परन्तु उस से भी बच सके तो बहुत उत्तम है"। सो यह भी उन लोगों का विचार ठीक नहीं क्योंकि वेदादि श्रेष्ठ पुस्तकों में मांस मद्य का विधान नहीं है। सौत्रामणी यज्ञ में मद्य पीने का विधान प्रामादिक है। जैसे आपत्काल में कहीं कभी प्राणरक्षा के लिये मांसभक्षण की अपेक्षा रक्खी है वैसे आपत्काल में भी मद्य से प्राण की रक्षा नहीं हो सकती। इस कारण मद्यमांस का विधान ही जब नहीं है फिर उस में दोष का निषेध करना भी असङ्गत है। यदि मांसादि का विधान भी होता तो उस के विधानमात्र से ही दोष न होना सिद्ध हो जाता है क्योंकि निर्दोष को ही कर्त्तव्य कह सकते हैं। फिर पुनरुक्त होने से यह श्लोक (न मांस०) प्रक्षिप्त है॥

आगे छ्यानवे सत्तानवे दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इन श्लोकों में कहा अर्थवाद ठीक नहीं है किन्तु प्रजा का विवाद मेट वा निर्णय (फैसला) कर रक्षा करने के लिये राजा को नित्य न्यायासन (राजगद्दी) पर बैठना चाहिये इस कारण उस को अशुद्धि नहीं लगती यह चौरानवे श्लोक में कहा अर्थवाद ठीक है। और चन्द्रमा अग्नि आदि के अंशों से तो सब प्राणियों के शरीर बनते ही हैं इस कारण से यदि राजा को अशुद्धि का निषेध हो तो सब को अशुद्धि न माननी चाहिये। इस कारण उक्त दोनों श्लोक प्रक्षिप्त हैं। आगे एक सौ पच्चीशवां श्लोक प्रक्षिप्त है। यदि गीले दाल शाक खीर वा शीरादि में से कुछ भाग पक्षी, मक्खी, वाल वा कीड़ा आदि से दूषित हो तो उस दाल आदि में थोड़ी मट्टी डाल देने से उस की शुद्धि नहीं हो सकती किन्तु पहिले की अपेक्षा और भी बिगड़ जायगा। क्योंकि मट्टी मिली हुई दाल आदि को कोई नहीं खा सकता। यदि किसी सूखे वस्तु को पखेरू आदि ने झूठा कर डाला हो तो विगड़े हुए भाग को निकाल देने से शुद्धि हो सकती है किन्तु मट्टी डाल देने से वह भी शुद्ध न होगा। और मट्टी डाल देने मात्र से ऐसे दोष की कोई शुद्धि नहीं मान सकता। आगे एकसौ इकत्तीशवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है क्योंकि उस से पूर्व श्लोक में लिखा है कि किसी मृग के पकड़ने में कुत्ता का मुख शुद्ध है। यह उपलक्षणमात्र माना जावे कि कुत्ता आदि अशुद्ध प्राणियों का मुख भी शिकार पकड़ने में शुद्ध है इस से सामान्य कर अन्य भी आ सकते हैं फिर पुनरुक्त होने से प्रक्षिप्त है। यह मनु ने कहा ऐसी आड़ लेना मनु के वाक्य होने में सन्देह कराता है। जब सभी पुस्तक मनु

का कहा है तब इस कथन में कुछ विशेषता की सिद्धि नहीं है। अर्थात् जहां धर्मसम्बन्धी कोई विशेष लक्षण होगा वहां मनु का नाम उस के साथ बल देने के लिये उपयोगी होगा कि इस को विशेष बल के साथ मनु का कथन जानो। परन्तु यहां यह बात नहीं। किन्तु शिकार में कुत्ते का मुख शुद्ध कहने से यह न समझना कि यहां शिकार और मांस खाने की आज्ञा दी जाती हो किन्तु यहां एक प्रकार का सिद्धानुवाद है कि जो लोग मांस खाने में प्रवृत्त हैं वे कुत्ते आदि मृगयाकारी (शिकारी) अशुद्ध के पकड़े जन्तुओं को भी अशुद्ध नहीं मानते। और यह तो सिद्ध कर दिया है कि जीवों का मारना और मांस खाना पाप का हेतु है। आगे एकसौ सैंतीशवां श्लोक भी प्रक्षिप्त है। क्योंकि अन्य आश्रमियों की अपेक्षा स्त्री के साथ में सम्बन्ध होने से गृहस्थ अधिक अशुद्ध होता है वैसे ब्रह्मचारी आदि अशुद्ध नहीं होते इस कारण गृहस्थ से भी ब्रह्मचारी आदि को अधिक अशुद्धि दिखानी चाहिये। परन्तु यह विपरीत लिखना अनुचित है कि गृहस्थ से द्विगुण ब्रह्मचारी को उस से दूनी वानप्रस्थ को और वानप्रस्थ से दूनी संन्यासी को शुद्धी करनी चाहिये। तथा सब के मलमूत्रादि में गन्ध और मलीनता एकसी होगी। इस लिये कोई उचित कारण ऐसा नहीं मिलता जिस से ब्रह्मचर्यादि आश्रमस्थों को अधिक२ अशुद्धि कही जावे। इस कारण किसी ने प्रमाद से यह श्लोक मिलाया जान पड़ता है। इस प्रकार इस पांचवें अध्याय के एकसौ उनहत्तर १६९ श्लोकों में से तीश श्लोक प्रक्षिप्त हैं शेष रहे एकसौ उनतालीश १३९ श्लोक अच्छे निर्विवाद माननीय हैं॥

अथ वानप्रस्थसंन्यासविचारः॥

मनुष्यआदौ यथाविधि ब्रह्मचर्याश्रमे वेदादिशास्त्रशिक्षासम्पन्नो भूत्वा धर्मतो गृहाश्रमे पुत्रानुत्पाद्य तान्समर्थान् कृत्वा पञ्चाशद्वर्षादूर्ध्वं गृहान्निस्सृत्य वने वसेत्। वनवासोऽत्रोपलक्षणमात्रं तेनैकान्तवासोऽपेक्ष्यते स एवं भूतेऽवकाशे निवसेद्यत्र वासेन चेतसोऽन्तःकरणस्य परमैकाग्र्यं समाधानं च संजायेत तच्च जगदुपकाराय स्वस्य परमार्थसाधनाय वापरमं साधनमस्ति नह्येकान्तवासमन्तरेण

तादृशं समाधनं सर्वैः कर्त्तुं शक्यते। यदि केनचिदधिकारिणा पुरुषविशेषेण गृहे सतैव तपस्तप्तुं शक्यते तदर्थं च गृहान्निस्सृत्य वनवासो नैवात्र विधीयते यतोऽस्मिन्नेवाध्याय–उक्तम्–

वेदसंन्यासिकानां तु कर्मयोगं निबोधत।
संन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मदोषानपानुदन्।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्॥

इत्यादि प्रकारेण ये गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहं तपस्तप्तुं शक्नुवन्ति तैः पञ्चाशद्वर्षादूर्ध्वं स्वस्त्रिया साकमपि कामासक्तिं सर्वथा विहाय गृहे सद्भिरेव वानप्रस्थाश्रमकृत्यं सेव्यम्। तपःसेवनाय च वानप्रस्थाश्रमोऽस्ति। तथा च व्यासेन योगभाष्यस्य समाधिपादारम्भ एव तपःसेवनस्य परमावश्यकत्वं प्रदर्शितम्—"नातपस्विनो योगः सिध्यति–अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः सम्भेदमापद्यते इति तपस उपादानम्—तच्चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति।" यथा वस्त्रादिष्ववस्थितः स्थूलो मलः सरलोपायेन पूर्वं निर्धूयते। सूक्ष्मस्य बहुकालात्सञ्चितस्य दृढतया स्वाधारेऽवस्थितस्य विशिष्टप्रयत्नाद्विना निवृत्तिः कर्त्तुमशक्येति कृत्वा तपोरूपविशिष्टोपायसेवनाय तृतीयाश्रमः सर्वैः स्वकल्याणकाङ्क्षिभिर्जनैरवश्यं सेवनीय इति गृहाश्रमानन्तरं वानप्रस्थाश्रमकरणस्य तात्पर्यमस्ति॥

संन्यासाश्रमस्तु जीवन्मुक्तिदशाधारणाय केवलपरमात्माश्रयेणैवैकाकिना भ्रमणाय मुक्तिद्वाराश्रयाय च सर्वैरन्त्यावस्थायां सेवनीयः। तत्र पूर्वाश्रमत्रयं संसेव्यैव संन्यस्तेन भाव्यमिति सामान्यतया प्रधानः पक्षः। अतएवोत्सर्गरूपतयोक्तम्–

अधीत्य विधिवद्वेदान्पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥

अस्यापवादा अन्ये यथा—यदहरेव प्रव्रजेत्तदहरेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा ब्रह्मचर्याद्वेति केचित् । अस्यायमाशयः—पूर्णे परिपक्वे च सांसारिकसुखाज्जायमाने वैराग्ये पूर्णविद्येन भुक्तदृष्टसुखेन तत्र दृष्टदोषेण विदुषा संन्यास आश्रमः कार्यः । इत्थं करणमाश्रमत्रयसेवनानन्तरमेव सम्भवति । यत्राविद्वद्भिर्वैराग्याभासाविष्टैः क्षुद्रैर्जनैः संन्यासाश्रमो ध्रियते तस्य देशस्य तेषां च सदाधोगतिरेव जायते। अतएवायमपि सिद्धान्तः साधुरेवास्ति यद्ब्राह्मणेनैव संन्यासो धारणीयो विद्यापारगश्च ब्राह्मणो भवति । यदि क्षत्रियादिः संन्यासयोग्यो भवेत्तदा सोऽपि स्वगुणकर्मभिर्ब्राह्मणो भूत्वैव तत्कर्त्तुमर्हति नान्यथेति शम् । अस्मिन्नध्याये प्रक्षिप्तं किमपि पद्यं नास्ति ॥

भाषार्थः—अब वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम का संक्षेप से विचार किया जाता है—मनुष्य पहिली अवस्था में वेदादि शास्त्रों में लिखे अनुसार ब्रह्मचर्याश्रम को धारण करके वेदादि शास्त्रों की शिक्षा को प्राप्त करके गृहाश्रम में विवाह कर धर्मपूर्वक पुत्रों को उत्पन्न और उन को समर्थ करके पचाश वर्ष की अवस्था से ऊपर गृह से निकल कर बन में वसे । वन में वसना यहां उपलक्षणमात्र है । अर्थात् घर से बाहर कहीं एकान्त में जहां वसने से मन की अत्यन्त स्थिरता और अन्तःकरण के सब सन्देहों की निवृत्ति हो । इस प्रकार मन की शुद्धि होना ही जगत् के उपकार और अपने परमकल्याण मुक्ति आदि को प्राप्त होने के लिये सर्वोपरि उपाय है । एकान्त में वसने के विना चित्त का वैसा समाधान सब कोई नहीं कर सकते । यदि कोई विशेष अधिकारी बिरला मनुष्य घर में रहता हुआ ही तप कर सकता हो तो उस के लिये घर से निकल कर बन में वसने का यहां बिधान नहीं है । क्योंकि इसी छठे अध्याय में लिखा है कि "यहां तक सामान्य कर संन्यासियों का धर्म कहा अब आगे विशेष वेदसंन्यासियों का धर्म कहते हैं । सब कर्म और उन के फलभोग की उत्कण्ठा को छोड़

कर कर्म के दोषों को छोड़ता हुआ नियमपूर्वक वेद का अभ्यास कर के पुत्र और ऐश्वर्य के साथ ही मरणपर्यन्त निवास करे। यहां राजा जनकादि का उदाहरण जो शतपथादि में लिखा है वही विशेष दृष्टान्त है। अर्थात् पूर्वकाल में ऐसे बहुत ऋषि महर्षि हो गये जो घर में रहते हुए ही वैसे काम कर सकते थे। इत्यादि प्रकारसे जो घर में रहते हुए ही गृहाश्रम की सफलता हुए पीछे पांचो इन्द्रियों को वश में करनारूप तप कर सकते हैं उन को पचाश वर्ष की अवस्था के पश्चात् अपनी स्त्री के साथ भी कामासक्ति को सर्वथा छोड़ कर घर में रहते ही वानप्रस्थाश्रम का काम–तप करना चाहिये क्योंकि तप करने के लिये वानप्रस्थाश्रम है। सो व्यास जी ने योगभाष्य के समाधि पाद के आरम्भ में ही तप करने की अत्यन्त आवश्यकता दिखायी है "तप किये विना योगसिद्धि नहीं हो सकती और योगाभ्यास किये विना मनुष्य का कल्याण भी नहीं होता क्योंकि अनादि काल से किये शुभाशुभ कर्म और अविद्यादि क्लेशों की वासनारूप रस्सियों से जकड़ी चित्रविचित्रविषयक जाल जिस में प्रगट है ऐसी अन्तःकरण की अशुद्धि विना तप किये नष्ट नहीं हो सकती इस कारण अपना कल्याण चाहने वाले प्रत्येक मनुष्य को सावधानी से तप करना चाहिये। परन्तु ऐसा भी तप न करे कि जिस से शरीर को विशेष कष्ट हो कर असाध्य रोगादि में ग्रस्त हो जावे किन्तु जिस से चित्त प्रसन्न हो ऐसा तप करे" जैसे वस्त्रादि में अवस्थित थोड़ा स्थूल मल पहिले साधारण धोने आदि उपाय से छूट जाता है। और बहुत काल से जुड़े उस वस्त्रादि के रोम २ में व्याप्त दृढ़ता से ठहरे हुए मल की निवृत्ति बहुत बड़े उपाय से कर सकते हैं ऐसा विचार कर तपरूप विशेष उपाय से अज्ञान को हटाने के लिये तीसरा वानप्रस्थ आश्रम अपना कल्याण चाहने वाले सब मनुष्यों को अवश्य सेवने योग्य है। यह वानप्रस्थाश्रम करने का अभिप्राय है। प्रयोजन यह है कि इस वानप्रस्थाश्रम में बहुत काल के जमे हुए अन्तःकरण के मल को छुड़ाने का उपाय बताया गया है कि ऐसा २ सेवन करना चाहिये "प्राणायामों से दोषों को जलावे, धारणाओं से मन के पाप को, प्रत्याहार से मन की फसावट मिटावे और ध्यान करके ईश्वर में विश्वास न होने रूप अन्तःकरण के दोष को दूर करे। जैसे अग्नि में तपाने से सुवर्णादि धातुओं के मल छूट कर निर्मल निकल आते हैं ऐसे ही प्राणायामादि रूप योगाभ्यास तप से इन्द्रियों और अन्तःकरण को निर्मल कर कल्याण प्राप्ति का उपाय

वानस्थ आश्रम में करे।" घर के अनेक फन्दों को छोड़ कर वन को प्रस्थान जिस दशा में किया जावे उस को वानप्रस्थ आश्रम कहते हैं इस का विशेष विचार भाष्य में देखना चाहिये॥

और संन्यासाश्रम तो केवल एक परमेश्वर के आश्रय को ले कर सब की सहायता छोड़ कर भ्रमण करने तथा जीवन्मुक्तिदशा को धारण कर मुक्ति के द्वार पर पग धरने के लिये सब वृद्धावस्था में सेवना चाहिये। सो पहिले ब्रह्मचर्य गृहस्थ और वानप्रस्थ इन तीन आश्रमों का सेवन करके ही संन्यासी होना चाहिये यह सामान्य कर उत्सर्गरूप प्रधान पक्ष है। इसी कारण इस छठे अध्याय में उत्सर्गरूप से कहा है कि "पहिले ब्रह्मचर्याश्रम में विधिपूर्वक वेद पढ़ के द्वितीय गृहाश्रम में धर्म से पुत्रों को उत्पन्न कर तथा वानप्रस्थाश्रम में यज्ञादि तप करके मोक्ष अर्थात् संन्यास में मन लगावे" अन्य वाक्य इस के अपवाद हैं कि जिस दिन विरक्तता आ जावे उसी दिन घर वा वन से तथा किन्हीं की सम्मति है कि ब्रह्मचर्याश्रम से ही संन्यासी हो जावे। इस का आशय यह है कि संसारी सुखभोग से पूर्ण और परिपक्व दृढ़ वैराग्य होने पर संसारी सुखभोग में जिस ने अनेक दोष देखे अथवा लौकिक सब सुख जिस ने भोग लिये ऐसे पूर्ण विद्यायुक्त विद्वान् को संन्यास आश्रम धारण करना चाहिये। ऐसा होना तीनों आश्रम का सेवन किये पश्चात् संन्यास धारण करने पर सम्भव है। जिस देश में नाममात्र के वैराग्य में फस कर मूर्ख अविद्वान् लोग संन्यासाश्रम धारण करते हैं उस देश और उन मनुष्यों की सदा अधोगति ही होती है। इसी कारण यह भी सिद्धान्त ठीक ही है कि ब्राह्मण को ही संन्यास धारण करना चाहिये क्योंकि पूर्ण विद्वान् हुए विना वैराग्य ठीक नहीं हो सकता और ब्राह्मण ही पूर्ण विद्यावान् हो सकता है यदि कोई क्षत्रियादि तप करके पूर्ण विद्वान् होने से संन्यास धारण करने योग्य हो तो वह गुण कर्मों से ब्राह्मण की योग्यता धारण करने पर ही हो सकता है अन्यथा नहीं। अब इस विषय का विचार समाप्त किया जाता है। और इस छठे अध्याय में प्रक्षिप्त भी कोई श्लोक नहीं इस कारण उस का भी कुछ विचार यहां कर्त्तव्य नहीं है॥

अथाग्रे संक्षेपेण राजधर्मविचारः प्रक्रियते॥

राजन्शब्दो लोके क्षत्रियवर्णस्यापि वाचक उपलभ्यते तस्य राज्ञः क्षत्रियमात्रस्य धर्मो राजधर्म इत्यपि समासः कर्त्तुं शक्यते।

तथा प्रजापालकस्याधिष्ठातुरीश्वरस्यापि विशिष्टैश्वर्येण राजमानत्वाद्वाचको राजन्शब्दोऽस्ति तस्य धर्मो राजधर्म इत्यपि वक्तुं शक्यत एव। यथाकथञ्चित्तदुभयं सम्भवति। अनयोश्च राजपदवाच्ययोर्यथाकथञ्चित्किमपि साधर्म्यमप्यपेक्ष्यते। क्षत्रियसमुदायोऽपि प्रजानां रक्षणमेव करोति नैको राजा सर्वस्य रक्षणं कर्त्तुमर्हति। परन्तु प्राधान्येनात्र नृपस्याधिष्ठातू राज्ञ एव धर्मस्य विवेचनमस्ति। राजधर्मस्य प्रधानतया नवमाध्यायावधि त्रिष्वध्यायेषु विस्तारेण वर्णनं कृतमस्ति। तस्य विशिष्टं व्याख्यानं तु तत्रैव द्रष्टव्यम्। इह तु धर्मस्य प्राधान्यं प्रदर्श्यते। यस्मिन् देशे धर्मपुरस्सरं राज्यं भवति तत्रस्था प्रजा सर्वसुखैः सम्पन्ना सन्तुष्टा च जायते। इदमेव सुराज्यस्य लक्षणम्। राजनि धर्मात्मनि सति प्रजासु चौरास्तस्करा दस्यव उत्कोचकादयश्च नश्यन्ति सूर्योदयेन्धऽकार इव। राजा प्रधानः प्रधानवदप्रधानोऽपि जायते। अतएव यथा राजा तथा प्रजेति जनश्रुतिचरितार्था भवति। धर्मात्मनो राज्ञो दृढं बहुकालस्थायि राज्यं भवति प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति। अतएवेदमपि कथनं सम्भवति—राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते। वक्तुरेव हि तज्जाड्यं श्रोता यत्र न बुध्यते। एतदनुसारेण राजकर्मचारिभिरपि यत् क्रियते तत्रापि प्रधानस्य राज्ञ एव प्रधानो दोष इति। यश्च राजा लोभाभिपाती भवति स सम्यग्धर्मानुकूलं शासनं कर्त्तुमशक्तः—यतो हि लोभः पापस्य कारणम्। सर्गारम्भाद्बहुकालावध्यार्याणां धर्मप्रधानत्वादेव राज्यं परम्परागतम्। द्वीपान्तरस्थानां च धर्मबाह्यत्वादेव राज्यं विनष्टमग्रे च बहुकालावधि तादृशराज्यस्यावस्थितिरसम्भवा प्रतीयते। यादृशदण्डेनैकस्मै

चौरादये दत्तेन भयभीताः सन्तोऽन्ये तद्दण्डं दृष्ट्वा श्रुत्वा वा तादृशं कर्म नाचरेयुः । एवं दण्डो दातव्यो यथा कस्यचिन्मुहुर्मुहुश्चौर्यकर्मणि प्रवृत्तस्य केनचिद्राज्ञाहस्तौ छिन्नौ। अन्ये च तस्य तादृशं फलं दृष्ट्वा भीताः सन्तस्तथा नाचरिष्यन्ति । यस्मिन् राज्ये चौर्याद्यधर्मस्य प्रवृत्तिर्न्यूनान्न्यूना जायते तस्य धर्म्यराज्यत्वं वक्तुं शक्यते । तदेव च दृढं बहुकालस्थायि भवितुमर्हति । यथा दृष्टान्तरूपेणोक्तम्—धान्यानामष्टमो भागः षष्ठो द्वादश एव वा । अनेन यदा कृषौ धान्यमल्पं बहु वा यादृशमुत्पद्यते तस्मात्कृषकात्तादृश एव न्यूनोऽधिको वा राज्ञोऽपि भागोऽस्ति । यदि कथञ्चिद्दैवात्किमपि नोत्पद्येत तदा राज्ञोऽपि भागो नास्ति प्रत्युत स्वकोशात्तदा कृषकेभ्यो राज्ञा देयम् । यत्र राज्ये कृषौ सर्वथा नष्टेऽपि तादृश एव करो राजकर्मचारिभिर्बलादादीयते तदेवाधर्मजनकं राज्यमिति बोद्धव्यम् ॥

भावार्थः—अब संक्षेप से राजधर्म का विवेचन किया जाता है । लोक में राजन्शब्द क्षत्रियवर्ण वा जातिमात्र का भी वाचक मिलता है इसी कारण राजा नाम क्षत्रियमात्र के धर्म को भी राजधर्म कह सकते हैं। तथा राजानाम प्रजा के रक्षक मनुष्यों में ईश्वरनाम सर्वोपरि सामर्थ्यवान् स्वामी, विशेष ऐश्वर्य से प्रकाशवान् होने से लोक में प्रसिद्ध राजा का भी वाचक राजन्शब्द है इस कारण उस के धर्म को भी राजधर्म कहते हैं। इस प्रकरण में जिस किसी प्रकार दोनों अर्थ घट सकते हैं क्योंकि इन दोनों राजपदवाच्यों का किन्हीं अंशों में साधर्म्य अपेक्षित है । क्योंकि सेनादि में रहने वाले सभी क्षत्रिय प्रजाओं की रक्षा करते हैं किन्तु एक प्रधान राजा ही सब की रक्षा नहीं कर सकता । परन्तु तो भी मुख्य कर प्रजारक्षक अधिष्ठाता राजा के ही धर्म का विवेचन अपेक्षित है । राजधर्म को इस ग्रन्थ के सात से नौ अध्याय तक तीन अध्यायों में विवेचना की गयी है । उस का विशेष व्याख्यान तो वहीं देखना चाहिये यहां केवल धर्म की प्रधानता दिखाते हैं- जिस देश में धर्मपूर्वक राज्य होता है वहां की प्रजा सब सुखों से युक्त और सन्तुष्ट होती है यही अच्छे राज्य और धर्मात्मा राजा का लक्षण

है। राजा के धर्मात्मा होने पर प्रजाओं में चोर डाकू और लुटेरे आदि सूर्य के उदय में अन्धकार के तुल्य नष्ट हो जाते हैं। जब राजा प्रधान वा मुख्य है तो उसी के तुल्य गौण प्रजा भी होगी क्योंकि यह लोक वा शास्त्र का नियम है कि प्रधान के तुल्य गुण कर्म स्वभाव वाला गौण भी हो जाता है अर्थात् राजा धर्मा-हो तो उस की प्रजा भी धर्मात्मा हो जायगी। और अधर्मी होगा तो अधर्मी प्रजा हो जायगी। इस के लिये सैकड़ों दृष्टान्त मिल सकते हैं कि खारी जल में जो अच्छे विन्दु गिरते हैं वे भी खारी हो जाते हैं। बहुत से चोरों का साथी एक दो अच्छा भी चोर बन जाता है। यदि वह अच्छा एक दो मनुष्य सब चोरों को अच्छा बना ले तो वहां वह एक दो ही प्रधान होगा और चोर गौण हो जायँगे। तथा जैसे राजा जाता है यहां साथ चलने वाले राजकर्मचारियों को प्रधान राजा के अन्तर्गत मान के अन्यों के गमन का प्रयोग नहीं किया जाता। इसी पक्ष को प्रधान मान के लोक में यह भी जनश्रुति (कहावत) प्रसिद्ध है कि "यथा राजा तथा प्रजाः" इस सब कथन का आशय यह है कि जहां प्रजा के लोग वा राजकर्मचारी अधर्मी हों वा प्रजा की व्यवस्था ठीक न हो वा प्रजा के लोग राजा को कोशैं वा बुरा समझैं वहां अधिक दोष राजा का है। यदि राजा ठीक धर्मात्मा होगा और प्रजा के लोगों को पुत्र के तुल्य सुख देने को तत्पर रहे गा तो वहां की प्रजा भी कभी अधर्मी और राजा से विरुद्ध नहीं हो सकती किन्तु प्रजा उस राजा को अपना पिता वा ईश्वर के तुल्य मानने को तत्पर रहेगी। और जो राजा प्रजा के सुख दुःख की ओर पूरा ध्यान न देकर स्वार्थी लोभी और लालची बन के सब समय वा दशाओं में जिस किसी प्रकार प्रजा से धन हरणे का उपाय सदा रक्खेगा उस को प्रजा भी सदा दुष्ट समझे गी और दुःखी हो २ के सदा कोशेगी। ऐसे राजा का राज्य बहुत काल तक नहीं चल सकेगा अर्थात् लाखों वर्ष तो दूर रहा किन्तु सहस्रों वर्ष भी चलना दुस्तर है। और धर्मात्मा राजा का यह भी बड़ा लक्षण है कि उस का राज्य बहुत काल तक दृढ़ स्थिर रहता है। और उस राज्य में प्रजा मोहित वा दुःखित नहीं होती। प्रयोजन यह है कि न्यायाधीश राजा यदि चित्त से किसी की ओर कुटिलता वा स्वार्थपरता से न देखे गा तो प्रजा अवश्य सुखी रहेगी। इसी कारण इस राज-प्रकरण में कहा यह भी कथन सम्भव है कि "सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि ये सब राजव्यवहार के नाम हैं इस कारण राजा को ही विद्वान् लोग युग कहते हैं"

तात्पर्य यह है कि जब स्वार्थपरता और आलस्यादि व्यसनों से दूर रह कर राजा ठीक २ धर्म की प्रवृत्ति करना चाहता है तब बहुत शीघ्र धर्म का प्रचार हो सकता है कि जो प्रजा की चाहना से सहस्रों वर्ष में भी पूरा होना दुस्तर है। जिस दिन किसी कर्त्तव्य के लिये राजा की आज्ञा हो जाती है उस को प्रजा के लोग निर्विवाद मानने लगते हैं। इसी के अनुसार धर्मकार्यों का प्रचार बहुत शीघ्र हो सकता है। तथा जैसे एक यह भी कहावत है कि "वह वक्ता का ही दोष है कि जिस के कथन को श्रोता लोग न समझ पावें।" अर्थात् इस से भी प्रजा की उन्नति न होने में राजा का दोष है। और राजकर्मचारी भी जो कुछ बुराई करते हैं उस में भी प्रधान राजा का ही मुख्य दोष होगा क्योंकि यह न्याय की बात है कि जिस को पाप लगता वही पुण्य भी भोगता है तथा जो पुण्य भोगता वह पाप का भी भागी होता है। अर्थात् जो कुछ प्रजा के साथ भलाई वा सुकर्म राजकर्मचारी करें गे उस से जैसे राजा की प्रशंसा और राज्य की ओर से समझा जायगा वैसे वे जो कुछ पाप वा बुराई करें गे वह भी राजा की ओर से होगा क्योंकि सब कर्मचारी वा न्यायसभा सहित का ही नाम राजा पड़ता है। जो राजा लोभी हो कि प्रजा के सुख दुःख को न देख कर लोभ-रूप गढ़े में ही गिरता रहता है वह ठीक २ धर्मानुकूल राजशासन नहीं कर सकता क्योंकि लोभ ही पाप का सर्वोपरि कारण है जो अधिक लोभी है उस के निकट जानो सब पापों का समूह है। क्योंकि अन्य सब पाप लोभ के ही बाल बच्चे हैं। इस से सिद्ध है कि लोभी राजा महापापी है। सृष्टि के आरम्भ से बहुत काल अर्थात् लाखों क्रोड़ों वर्ष तक धर्म को आगे कर चलने से ही आर्य-राजाओं का राज्य बराबर चला आया। और द्वीपान्तरस्थ यवनादि का राज्य धर्मविरुद्ध चलने से नष्ट हो गया और आगे भी वैसे लोभमूलक राज्यों की अधिक स्थिति रहना असम्भव प्रतीत होती है॥

जैसा दण्ड एक चोरादि को दिया जाता है उस को अन्य लोग देख वा सुन कर डर जावें और वैसा कर्म करने का साहस न करें अर्थात् ऐसा दण्ड देना चाहिये कि जैसे कोई वार २ चोरी करे तो उस के हाथ काट लिये उस की वैसी दशा देख कर अन्य लोग चोरी करने से डरते हुए वैसा काम न करें गे। जिस राज्य में चोरी आदि अधर्म की प्रवृत्ति आगे २ सदा कम २ होती जाती है उस को धर्मानुकूल राज कह सकते हैं और वही दृढ़ बहुकालस्थायी राज्य होता है।

जैसे इसी राजधर्मप्रकरण में दृष्टान्तरूप से यह लिखा है कि "धान्य नाम अन्न की उत्पत्ति में आठवां छठा वा बारहवां भाग लेवे अर्थात् खेती की लागत महनत और उत्पत्ति को देख कर तीन में से कहीं २ किसी २ भाग का ग्रहण राजा करे। इस से सिद्ध हुआ कि खेती में थोड़ा बहुत जैसा अन्न उत्पन्न होगा वैसा ही न्यून वा अधिक उस खेती वाले से राजा को भाग मिले गा।" और जब किसान के घर में दैवयोग से अन्न उत्पन्न न हो वा हो कर नष्ट हो जावे तब राजा को कुछ नहीं लेना चाहिये किन्तु उलटा अपने घर से राजा किसान को देवे। और जिस राज्य में खेती में कुछ न होने पर भी वैसा ही कर राजकर्मचारी प्रजा से बलपूर्वक ले लेते हैं वही अधर्मजनक राज्य है ऐसा जानो। अभिप्राय यह है कि राजकर्मचारी भी राजा की इच्छा वा लोभादि को देख कर ही प्रजा पर निर्दयता से वर्त्ताव करते हैं यह राजा का महा अधर्म है कि जो प्रजा को तिल के समान दबा २ के तत्व खींचा जावे॥

राजधर्मविषये किञ्चिदुक्तमग्रेऽप्यवशिष्टं किमप्यभिधीयते–राज्ञः काचिज्जातिर्नास्ति स यदा न्यायासने तिष्ठति तदा स्त्रीपुत्रादयोऽपि तस्य न सन्ति किन्तु यथा प्रजास्था अन्ये जना दुष्कर्माण्याचरन्तो दण्डार्हा भवन्ति तथैव स्त्रीपुत्रादयोऽपि व्यवहार्याः। स तदानीमीश्वरोऽस्ति यस्मै यादृशं दण्डं प्रयच्छति स तद्भुङ्क्ते। कर्मणा यत्क्षत्रियत्वं तद्राजकर्मैवास्ति। अन्येऽपि ब्राह्मणादयो यदा प्रधानरूपेणाप्रधानरूपेण वा राजकर्मचारित्वादिना राजकर्मानुतिष्ठन्ति तदा तेष्वपि क्षत्रियत्वमायात्येव। यद्वा तेषु पूर्वतः क्षत्रियत्वे कथञ्चित्सत्येव तादृशं राजकर्म कर्त्तुमुत्साहः प्रवृत्तिश्चोपजायते। अतएव राज्ञः सर्वस्मात् पृथक् भूतत्वमीश्वरत्वञ्च दर्शनायाष्टम उक्तम्—

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति॥

चत्वारो वर्णाश्चत्वारः पृथक् पृथक् समुदायाः सन्ति तेषां सर्वेषां सामान्येन शासकः स्वस्वधर्मे व्यवस्थापकः सर्वेषु समदृष्टिरेक

ईश्वरवद्राजास्ति तस्य काचिज्जातिर्नास्ति। यद्यपि राजधर्मः क्षत्रियस्य प्रधानो धर्मोऽस्ति तथापि स क्षत्रियवर्णस्य पक्षपाती न भवति अतएवोक्तम्—

रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥

सिद्धमेतेन यः सर्वस्य समदृष्ट्या पालनं करोति स एव धर्मात्मा राजा भवितुमर्हति ॥

यस्मिन् राज्ये व्यभिचारस्य लेशोऽपि नास्ति तदपि धर्मराज्यम् । यदि कश्चित्कदाचिद्विस्मृत्य परस्त्रीगमनं कुर्यात्तदा धर्मशास्त्ररीत्या महद्दण्डं प्रयच्छेत्—यथोक्तमस्मिन्नेव प्रकरणे—

परदाराभिमर्शेषु प्रवृत्तान्नॄन् महीपतिः ।
उद्वेजनकरैर्दण्डैश्छिन्नयित्वा प्रवासयेत् ॥ १ ॥
तत्समुत्थो हि लोकस्य जायते वर्णसङ्करः ।
येन मूलहरोऽधर्मः सर्वनाशाय कल्पते ॥ २ ॥
भर्त्तारं लङ्घयेद्या स्त्री स्वज्ञातिकुलदर्पिताः ।
ता श्वभिः खादयेद्राजा संस्थाने बहुसंस्थिते ॥ ३ ॥

एतेन प्रतीयते पूर्वकाल आर्यावर्त्ते व्यभिचारो नासीदिदानीं च व्यभिचारस्य विशिष्टो दण्ड एव नास्ति । अतएव प्रत्यहं तस्य वृद्धिर्दृश्यते । यस्मिन् राज्ये व्यभिचारस्य विशिष्टो दोषो नास्ति नाऽधर्म्यराज्यं भवितुमर्हति। "कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् । " एतत्कथनेनानुमीयते ब्रह्मचर्याश्रमस्य यथावत्पालनं शिक्षितयोश्च युवावस्थां प्राप्तयोः कन्यावरयोः सर्वविधसादृश्ये सति विवाहोऽपि राजनियमेनैव भवेत्तदैव प्रजोन्नतिः सम्यग्भवति ।

राजनियममुल्लङ्घ्य नैव कश्चिदल्पावस्थायां कन्यावरयोरुद्वाहं कर्त्तुं शक्नोति । अस्मिन् राजप्रकरणे केचिद्विवादास्तन्निर्णयाश्च पूर्वं देश-कालभेदेनासन् । इदानीं तेषामुपयोगो नैव दृश्यते केचिच्च नूतना-विवादास्तत्र न सन्ति तदर्थं न्यायाधीशो नूतनान्नियमान् विद्वद्भिः कारयेत् । क्वचिद्ब्राह्मणादिवरिष्ठाय ज्ञानाधिक्याद्दण्डाधिक्यमुचितम् । क्वचिच्च हानिलाभौ समीक्ष्य साधारणापेक्षया दण्डस्याल्पत्वं क्षमा वेति सर्वं देशकालौ समक्ष्य कार्यम् ॥

भाषार्थः—राजधर्मविषय में इस से पहिले कुछ लिखा गया है आगे अब और भी कुछ संक्षेप से कहा जाता है–राजा की कोई जाति नहीं अर्थात् पहिले से भले ही वह ब्राह्मणादि किसी वर्ण समुदाय में उत्पन्न हुआ हो परन्तु जब वह न्यायासन–राजगद्दी पर बैठता है तब स्त्री पुत्रादि भी उस से अलग हो जाते और वह अपनी निज योग्यतानुसार सब से भिन्न वा विलक्षण माना जाता है। राजा एक मनुष्य जातिमात्र में बड़ा अधिकार है कि जो सब को मान्य होता है । इसी कारण वह किसी नीच समुदाय में भी उत्पन्न हो तो भी न्यायासन पर सुशोभित होने पर वैसा ही मान्य वा पूज्य होता है कि जैसा ब्राह्मण क्षत्रिय का राजा होने पर मानादि किया जावे । राजा जब राजगद्दी पर बैठता है तब जैसे दुष्टकर्म करने वाले प्रजा के अन्य लोग दण्ड के योग्य होते हैं वैसे ही राजा को अपने स्त्री पुत्रादि के साथ भी व्यवहार करना चाहिये । वह राजा न्याय करते समय ईश्वर का प्रतिनिधि है। इसी कारण राजा का नाम लोक में ईश्वर भी पड़ा है। क्योंकि ईश्वर का भी यही काम है कि वह जिस अपराधी को जैसा दण्ड देता है उस को निर्विवाद भोगना पड़ता है वैसे राजदण्ड भी निर्विवाद भोगने पड़ता है। कर्म से जो क्षत्रियपन माना जाता है वह भी राज-कर्म ही है अर्थात् जो कोई राजकर्म में ठीक २ धर्मानुकूल प्रवृत्त हो वह क्षत्रिय कहा जा सकता है । जब ब्राह्मणादि भी राजा वा राजकर्मचारी आदि बन के राज्यसम्बन्धी काम का ठीक २ सेवन करते हैं तब उन में भी क्षत्रियत्व आ ही जाता है। अथवा यों कहिये कि पहिले से उन ब्राह्मणादि में क्षत्रियत्व प्राकृति-क गुणों के अनुसार होता ही है जिस से उन की वैसे राज्यसम्बन्धी कर्म करने में

उत्साह वा प्रवृत्ति हो जाती है। इसी कारण राजा का सब से पृथक् होना वा ईश्वर होना दिखाने के लिये आठवें अध्याय में कहा है कि "पिता, गुरु, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र वा पुरोहित कोई क्यों न हो जो अपराध करे उस को बराबर यथायोग्य दण्ड देवे" चारो वर्ण पृथक् २ चार समुदाय हैं सामान्य कर उन सब का शासक और अपने २ धर्म पर चलाने वाला सब में समदृष्टि ईश्वर के तुल्य निष्पक्ष एक राजा है। यद्यपि राजधर्म क्षत्रिय का प्रधान वा मुख्य धर्म है तो भी वह क्षत्रियधर्म का पक्षपाती नहीं होता इसी से उस की कोई जाति नहीं है। और इसी कारण यह भी कहा है कि "इस सब जगत् की रक्षा के लिये परमेश्वर ने राजा को वनाया और ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार ही वह ऐसे अधिकार को प्राप्त होता है। मनुष्यरूप से बैठे राजा को देवता वा ईश्वररूप से देखना चाहिये अर्थात् प्रजास्थ मनुष्य उस को अपने तुल्य साधारण मनुष्य न समझें क्योंकि उस को परमेश्वर ने उस काम पर बैठाला है। इसी से जो चाहे वह राजा नहीं बन सकता किन्तु जिस को परमेश्वर बनाता है वही राजा बन सकता है इस से सिद्ध हुआ कि जो सब का समदृष्टि से पालन करता है वही राजा धर्मात्मा हो सकता है॥

जिस राज्य में व्यभिचार का लेश भी नहीं वह धर्मानुकूल राज्य है। यदि कोई कदापि भूल कर व्यभिचार करे तो धर्मशास्त्र (क़ानून) में लिखे अनुसार बड़ा दण्ड देवे। सो इसी राजप्रकरण में कहा है कि "परस्त्री के साथ व्यभिचार करने में प्रवृत्त मनुष्यों को लिङ्ग काट लेने आदि भयङ्कर दण्ड देके वा नाक कटवा लेना आदि दण्ड दे कर राज्य से बाहर निकलवा देवे॥ क्योंकि व्यभिचार से ही जगत् में वर्णसङ्कर दोष वढ़ता है जिस से सुख की जड़ों को निर्मूल करने वाला अधर्म वड़े वल से उठा हुआ सब का नाश करने वाला होजाता है। तात्पर्य यह है कि जैसे व्यभिचार करने वाले स्त्री पुरुषों का चित्त चलायमान भयभीत शान्त्यादि शुभगुणों से रहित बुराई में लिप्त होता है वैसे ही व्यभिचार के सन्तान भी अधर्म की मूर्त्ति होते हैं। यह कदापि सम्भव नहीं कि यदि धर्मानुकूल परस्पर अतिप्रसन्नतापूर्वक स्त्री पुरुषों की ओर से गर्भाधान हो तो वह पुत्र पिता माता से कभी विरोध करे वा उन की सेवा प्रीति से न करे। जिस देश में अधिक फूट वा विरोध वढ़ता है उस का वड़ा कारण व्यभिचार ही है। इस से जो अपने राज्य को दृढ़ करना चाहे वह व्यभिचार को जड़ से खोद कर उड़ा

देवे । जब व्यभिचार वा वेश्यागमन सर्वथा नष्ट होगा तभी स्त्री पुरुषों में भी ठीक २ प्रीति बढ़ेगी और प्रीति का फल अच्छे धर्मात्मा पुत्र होना वा संसार में सुख बढ़ना है ॥ जो स्त्री पति का तिरस्कार कर व्यभिचार करना चाहे उस को बहुत मनुष्यों के समुदाय में कुत्तों से काट २ के खिला देवे जिस से वैसा काम अन्य कोई फिर न करे। और जारपुरुष को लोहे की अत्यन्त तपायी अग्निवर्ण खट्वा पर बहुत मनुष्यों के समुदाय में लिटा देवे जिस से व्यभिचार का नाश हो जावे।" इत्यादि कथन से प्रतीत होता है कि पूर्व समय में इस आर्यावर्त्त देश में व्यभिचार नहीं था । और अब व्यभिचार पर विशेष दण्ड ही नहीं है । इसी से प्रतिदिन उस की वृद्धि दीखती है । जिस राज्य में व्यभिचार का विशेष विचार नहीं होता उस को धर्मानुकूल राज्य नहीं कह सकते । इस पर कोई यह शङ्का कर सकता है कि छोटे अपराध में वैसा बड़ा दण्ड देना क्या न्याय होगा ? इस का उत्तर यह है कि वह वास्तव में न्याय है क्योंकि राजा का क्रोध उस मनुष्य पर नहीं किन्तु उस पापकर्म पर होना चाहिये। ऐसे दण्ड राजा को एक वर्ष में एक दो ही कर देने से प्रजा भर में उस पाप की निवृत्ति हो जायगी । वैसे पाप का नाम सुन के लोग कम्पायमान रहा करेंगे पाप की ओर मुख भी नहीं उठेगा । और जो सहज दण्ड दिये जावें तो हजारों को दण्ड देने पड़ें इस से न्याय वही है जिस से पाप का नाश और सदा धर्म की वृद्धि होती रहे ॥

कन्या वरों का ठीक २ ब्रह्मचर्य और विद्या शिक्षायुक्त होने पर युवावस्था में विवाह होना तथा उन की ठीक २ विधि वा तुल्यता मिल जाना यह सब राजा के नियमानुसार ही हो तभी प्रजा की ठीक२ उन्नति हो सकती है । यदि राजा की आज्ञा हो जावे कि सब ब्राह्मणादि के बालक इतनी अवस्था तक पढ़ाये जावें तब तक किसी पुत्र वा कन्या का विवाह हो तो अमुक दण्ड मिले । तो राजनियम को तोड़ कर थोड़ी अवस्था में कोई भी विवाह न करे फिर नित्य की झींका झींकी आपही मिट जावे ॥

इस राजप्रकरण में कोई२ विवाद और उन का निर्णय (फैसला) ऐसे लिखे गये हैं जो पहिले देश काल भेद से इस देश में थे उन का उपयोग इस समय नहीं है तो भी व्यर्थ न समझने चाहिये क्योंकि जो कभी था वैसा फिर भी आगे हो सकता है । और अनेक विवाद वा निर्णय जो पहिले नहीं थे इसी से राज धर्म में नहीं लिखे गये उन के लिये राजा को चाहिये कि विद्वानों से नवीन

नियमकरा लेवे । तथा कहीं ब्राह्मणादि श्रेष्ठ पुरुषों को ज्ञानी होने से अधिक दण्ड देना उचित है और कहीं हानि लाभ देख कर साधारण की अपेक्षा बड़े को थोड़ा दण्ड देना वा क्षमा कर देना । ये दोनों बातें समयानुसार कर्त्तव्य हैं इसी से कहीं २ भेद दीखता है इस को विरोध नहीं समझना चाहिये ॥

अथ सप्तमाष्टमयोः प्रक्षिप्तविचारः क्रियते ॥

पूर्वं सप्तमेऽध्याय एकचत्वारिंशं द्वाचत्वारिंशं च पद्यद्वयं प्रक्षिप्तमस्ति । यावता यादृशेन चार्थवादेन विनयप्रशंसायामविनयनिन्दायां च भवितव्यं तावान् तादृक् च ततः पूर्वेण पद्यद्वयेनोक्तएवास्ति । अयं चार्थवादः साधुर्न दृश्यते । वेनादयो राजानोऽर्वाचीनाः सन्ति येषां विशिष्टा विस्तारेण च कथा महाभारतादिष्वितिहासेषु दृश्यन्ते । इदं च मानवं धर्मशास्त्रमत्यन्तं प्राचीनमेतादृशे प्राचीनपुस्तके तादृशोर्वाचीनोर्थवादः कथं स्यात् ? । नहि पितुर्जन्मसमये तस्य भाविनां पुत्राणां वृत्तं केन चिद्व्याख्यातुं शक्यते । लोके च यस्ययस्येतिहासो यत्र यत्र पुस्तके दृश्यते स स तत्तत्पुस्तकनिर्माणकालात्पूर्वमेव भवति। इत्यादि कारणैः प्रक्षिप्तं तत्पद्यद्वयमिति धीमद्भिरनुसन्धेयम् ॥

अग्रेऽष्टमाध्याये पञ्चोत्तरशततमं षष्ठोत्तरशततमं च पद्यद्वयं प्रक्षिप्तं प्रतीयते । ततः पूर्वपद्ये यदि कस्माच्चित्कारणाद्ब्राह्मणादीनां वधनिवारणाय कृतमसत्यभाषणं सत्यादपि विशिष्टफलप्रदमस्ति पुनरसति पापे कस्य निवृत्तये प्रायश्चित्तम् ? । अर्थादनर्थकमेतत्प्रायश्चित्तमस्ति । तथाऽत्र प्रायश्चित्तस्य प्रकरणमपि नास्त्यपित्वेकादशे तादृशो विचारः सामान्यविशेषतया कृत एवास्ति। तस्मात्प्रक्षिप्तमुक्तं पद्यद्वयम् ॥

दशोत्तरशततमं द्वादशोत्तरशततमं चतुर्दशोत्तरशततमात्षोड-शोत्तरशततमावधि च पञ्च पद्यानि प्रक्षिप्तानि सन्ति। नायमर्थवादः साधुरस्ति। यस्य सत्यवादित्वं लोके प्रकटं येन क्वापि कदापि मिथ्या नोच्यते तस्य केनापि शपथकरणं नापेक्ष्यते। वसिष्ठादयो महर्षयः शपथं किमर्थं कृतवन्तस्ते तु प्रसिद्धा एव सत्यभाषिणः। कथञ्चित्कृतवन्तस्तर्हि तेषामुदाहरणस्य नास्त्यत्र प्रयोजनम्। यदि सत्यस्यान्वेषणं शपथेन सम्भवेत्तदा शपथमपि कर्त्तव्यम्। कामिन्यादिविषयेऽपि मिथ्याशपथकरणमधर्मजनकं प्रामादिकं च। धर्मविरुद्धकार्यस्य सिद्धये मिथ्याशपथकरणं को धीमान् श्रद्धास्यति। असम्भवमेतद्यदग्न्यादयो हस्तज्वलनादिकं न कुर्युरिति जले च तरणशक्तिमन्तरा निमज्जनं न स्यात्। अतएव नीतिज्ञैरुक्तम्—

"होतारमपि जुह्वानं स्पृष्टो दहति पावकः।"

अग्नेर्दहनस्य स्वभाव एवास्ति स्वाभाविकगुणस्य निरोधं कोऽपि कदापि कर्त्तुं न शक्नोति। इदानींतनेषु यदि कश्चिच्छ्रद्दधीत तेन प्रज्वलन्नयोगोलकं हस्ते धार्यं मिथ्यादोषाश्च तत्र मादृशेन केनचिद्योक्ष्यन्ते। यदि हस्तादिकं तस्य न ज्वलेत्तदैतत्सत्यं स्यात्तत्त्वसम्भवं प्रतीयतेऽतः प्रक्षिप्तानि पञ्चपद्यानि॥

अग्रे चतुःषष्ट्युत्तरत्रिशततमं पद्यं क्षिप्तमस्ति। व्यभिचारप्रकरणे यदा तन्निवारणाय महदुग्रदण्डा उक्ताः पुनः कन्याया व्यभिचारे किमपि दूषणं न स्यादिति विरुद्धम्। यदि सा कस्यापि जाया नास्तीति कृत्वा दूषणाभिधानप्रतिषेधः स्यात्तदपि नास्ति सम्यक् यतस्तेन कर्मणा व्यभिचारस्य वृद्धिरेव दृश्यते। मातापित्रोरवज्ञाचापि दोषः। यदि विवाहरीत्या कन्योत्कृष्टमुपेयात्तदात्र दोषाभावो

दण्डप्रतिषेधश्च व्यर्थ एवास्ति तथाऽस्मिन्पत्ते उत्तरार्द्धस्याप्यसङ्गति-रिति कृत्वा प्रक्षिप्तं तत् ॥

अग्रेऽशीत्येकाशीत्युत्तरे त्रिशततमे द्वे पद्ये प्रक्षिप्तेस्तः ।

पिताऽऽचार्यः सुहृन्माता भार्या पुत्रः पुरोहितः ।

गुरुं वा बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ॥

ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ।

द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद्दोषगुणविद्धि सः ॥

इत्यादि पूर्वोक्तराजधर्मप्रकरणस्थप्रमाणानुकूल्येन यदाऽन्या-पेक्षया विद्वांसो गुरवः पुरोहिता बहुश्रुता अपि ब्राह्मणा दण्ड्या वध्याश्चोक्ताः पुनः सर्वपापेष्ववस्थितस्य हननं तु पुण्यजनकमेवा-स्ति । एतत्पद्यद्वयं केनचिद्ब्राह्मणेन स्वकुलरक्षार्थं निर्माय पक्षपाते-नात्र धृतम् । यदि पापेष्ववस्थितमपि ब्राह्मणं न हन्यात्तदाऽधर्मस्य तेन वृद्धिरेव जायेत । अतः प्रक्षिप्तमेतत्पद्यद्वयम् । एवमत्र सप्तमे पद्यद्वयमष्टमे च दश पद्यानि प्रक्षिप्तानि सन्ति ॥

भाषार्थः—अब सप्तमाष्टम अध्याय के प्रक्षिप्त श्लोकों का विचार किया जाता है—पहिले सप्तमाध्याय के एकतालीश बयालीश दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं । इन दोनों श्लोक में विनयपूर्वक वर्त्ताव की प्रशंसा और अविनयपूर्वक वर्त्ताव की निन्दा के लिये वेन आदि राजाओं के दृष्टान्त दिखाये हैं सो ठीक नहीं हैं । क्योंकि वि-नय की प्रशंसा और अविनय की निन्दा में जितना जैसा अर्थवाद होना चाहिये उतना और वैसा उनतालीश और चालीश श्लोक में कहा ही है । और यह अर्थवाद इस लिये ठीक नहीं है कि वेनादि राजा बहुत पिछले हैं जिन की विस्तार पूर्वक विशेष कथा महाभारतादि इतिहासों में दीखती हैं । और यह मानवधर्मशास्त्र बहुत प्राचीन है ऐसे प्राचीन पुस्तक में ऐसे पिछले लोगों की स्तुति निन्दा कैसे हो सकती है ?। और स्मृति वा धर्मशास्त्रों की शैली वा

परिपाटी से भी यह विरुद्ध है कि किसी का इतिहास उन में दिखाया जावे। क्योंकि इस के लिये महाभारतादि इतिहास पृथक् बनाये गये हैं। तथा पिता के जन्म समय में उस के आगे होने वाले पुत्रों के चरित्र का व्याख्यान कोई नहीं कर सकता। लोक में भी जिस २ का इतिहास जिस २ पुस्तक में दीखता है वह २ मनुष्यादि उस २ पुस्तक बनने के समय से पूर्व ही होता है। इत्यादि कारण से उक्त दोनों ४१।४२ श्लोक प्रक्षिप्त हैं ऐसा विचारशीलों को अनुसन्धान करना चाहिये ॥

आगे अष्टमाध्याय में एकसौ पांचवां और एकसौ छठा दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं। इन दोनों श्लोक में ब्राह्मणादि के वध को बचाने में बोले हुए झूठ का प्रायश्चित्त कहा गया है। सो इन दोनों श्लोकों से पूर्व के श्लोक में यदि किसी कारण ब्राह्मणादि को मरण से बचाने के लिये असत्यभाषण किया गया ठीक हो और उस को सत्यबोलने की अपेक्षा भी विशेष फलदायक माना तो पाप ही कहां हुआ? फिर किस की निवृत्ति के लिये प्रायश्चित्त कहा जावे इस से वह प्रायश्चित्त कहना व्यर्थ है। और यहां प्रायश्चित्त का प्रकरण भी नहीं है किन्तु ग्यारहवें अध्याय में वैसा झूठ बोलने आदि के प्रायश्चित्त का विचार सामान्य विशेष कर किया ही है। इस से उक्त दोनों श्लोक यहां प्रक्षिप्त हैं ॥

आगे एकसौ दशवां, एकसौ बारहवां और एकसौ चौदहवें से एकसौ सोलहवें तक पांच श्लोक प्रक्षिप्त हैं। यह भी अर्थवाद ठीक नहीं। इन श्लोकों में शपथ करने (कसम–खाने) की आवश्यकता मिथ्या शपथ करना और अग्निवर्ण लोहे का गोला हाथ पर धरना वा जल में डुबाना जिस को न अग्नि जलावे और न जल डुबावे वह जानो शुद्ध है उस का शपथ करना ठीक है वह पापी नहीं इत्यादि वर्णन किया है। सो यह ठीक नहीं क्योंकि जिस को सब कोई जानता है कि यह सत्यवादी है जो कभी कहीं मिथ्या नहीं बोलता उस को शपथ करने की कुछ आवश्यता नहीं है। वसिष्ठादि महर्षि लोगों का उदाहरण भी यहां ठीक नहीं क्योंकि वे प्रसिद्ध ही सत्यवादी थे फिर क्यों शपथ करते और कदाचित् करते भी तो उन के उदाहरण की कुछ आवश्यकता नहीं क्योंकि वह इतिहास का विषय है और शपथ लेने का मुख्य प्रयोजन यही होता है कि जो सत्य का खोज करने के लिये शपथ हो वा शपथ से विवाद मिटता हो तो शपथ लेना चाहिये यहीशपथविषयक अर्थवाद ठीक है। स्त्रियों को ठगने के लिये वा विवाहादि के

निमित्तमिथ्याशपथ करना अधर्म का हेतु और प्रमादी वा कामी लोगों का कथन है। धर्म से विरुद्ध कार्य की सिद्धि के लिये मिथ्याशपथ करने को कौन बुद्धिमान् अच्छा कहेगा ? । और यह तो असम्भव है कि अग्नि हाथ को न जलावे । नीति में लिखा है कि अग्नि का कोई मित्र नहीं होम करने वाला भी यदि स्पर्श करेगा तो अग्नि जला देगा । क्योंकि अग्नि का जलाना गुण स्वाभाविक है स्वाभाविक गुण को कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। यदि आधुनिक कोई मनुष्य इस को सत्य मानें कि शुद्ध को अग्नि न जलावे गा तो उस को कोई मिथ्या दोष लगा देवे वह दोषी तो है नहीं फिर अग्नि का अङ्गार हाथ पर धर लेवे तब यदि उस का हाथ न जले तो यह सत्य हो सकता है परन्तु यह असम्भव है । इस से ये उक्त पांचो श्लोक प्रक्षिप्त हैं ॥

आगे तीनसौ चैंसठवां श्लोक प्रक्षिप्त है । इस पद्य में कन्या को व्यभिचार में दोष का निषेध किया है । सो इस व्यभिचारप्रकरण में जब उस को हटाने के लिये बड़े२ कठोर दण्ड कहे फिर कन्या को व्यभिचार में कुछ दोष नहीं यह विरुद्ध है । यदि वह किसी की स्त्री नहीं इस से दोष का निषेध होतो ठीक नहीं क्योंकि उस कर्म से व्यभिचार की वृद्धि ही दीखती है और स्वयं किसी पुरुष से व्यभिचार करने में माता पिता की आज्ञा न लेना उन का अपमानरूप दोष है। यदि एक व्यभिचारिणी कन्या को कठोर दण्ड दिया जावे तो आगे अन्य कन्या उसी दण्ड के भय से व्यभिचार न करें गी । इस लिये कन्या को भी दण्ड देना व्यभिचार का नाशक होगा। यदि कोई कहे कि विवाह रीति से किसी उत्तम वर को कन्या ग्रहण कर ले इस में दोष नहीं तो दोष वा दण्ड का निषेध भी व्यर्थ है । क्योंकि विवाह में दोष प्राप्त ही कैसे था जिस का निषेध किया जाता । तथा इस पक्ष में इस श्लोक के उत्तरार्द्ध की भी सङ्गति न लगेगी इस से वह प्रक्षिप्त है ॥

आगे तीनसौ अस्सी और तीनसौ इक्याशीवां दो श्लोक प्रक्षिप्त हैं क्योंकि पूर्व कह चुके हैं कि "पिता, गुरु, मित्र, माता, स्त्री, पुत्र और पुरोहित इत्यादि सभी को राजा दण्ड देवे । गुरु, बालक, वृद्ध, वा बहुश्रुत ब्राह्मण भले ही हो यदि शस्त्र ले कर सामने मारने को आवे तो विना विचारे मार देवे वा मार डाले । तथा ब्राह्मण सब विषयों के गुण दोष वा धर्माऽधर्म के तत्त्व को सब की अपेक्षा अधिक जानता है इस कारण सब से अधिक दण्ड ब्राह्मण को दिया जावे"

इत्यादि प्रमाणों के अनुसार जब अन्य की अपेक्षा विद्वान् गुरु पुरोहित और बहुश्रुत ब्राह्मणों को अधिकदण्ड और वध्य कहा फिर सब पापों में अवस्थित ब्राह्मण का मार डालना पुण्यकारक ही होगा। ये दोनों श्लोक किसी ब्राह्मण ने अपने कुल की रक्षा के लिये बना कर पक्षपात से यहां डाल दिये हैं। जो पापी ब्राह्मण को भी न मारे तो उस से अधर्म की वृद्धि अवश्य होगी इस से ये दोनों पद्य प्रक्षिप्त हैं। इस प्रकार सप्तमाध्याय में दो और अष्टमाध्याय में दश श्लोक प्रक्षिप्त हैं॥

अथ संक्षेपेण दायभागविचारः॥

विभागोऽर्थस्य पित्र्यस्य तनयैर्यत्र कल्प्यते। "दायभाग इति प्रोक्तं व्यवहारपदं बुधैरिति नारदीयवचनम्।" दायशब्देन विशिष्टं धनमुच्यते यद्धनं न्यायतो येन ग्राह्यं स तस्य दाय इति भवति। धनशब्दश्चात्र रूप्यादेरेव वाचको न ग्राह्योऽपितु यावत्पित्रादीनां स्वं स सर्वो दायएवास्ति तं दायमादत्तेऽत्ति वाऽसौ दायादः। तस्य दायस्य विभागविवेचनं दायभागः। स च दायो द्विविधः सविवादो निर्विवादश्च। पितृव्यमातामहादीनामौरसपुत्रस्वामिनोरभावे सविवादो दायः। पितुः पितामहस्य वा तयोरभावे पुत्रपौत्रादिभिर्ग्राह्यो निर्विवादो दायः क्वचित्सविवादो निर्विवादतां निर्विवादश्च सविवादत्वमपि प्राप्नोति तदर्थमेव महर्षिभिर्दायभागविवेचनपराणि धर्मशास्त्राणि निर्मितानि तस्मादप्यवशिष्टं सामयिके न्यायालये न्यायाधीशैर्निर्णीयते॥

अत्रायं पूर्वपक्षः प्रवर्त्तते—यैर्मृतेभ्यः पितृभ्यः पिण्डार्पणं नैव स्वीक्रियते तेषां मते—

"उभयोरप्यसौ रिक्थी पिण्डदाता च धर्मतः।
पिण्डदोऽशहरश्चैषां पूर्वाभावे परः परः॥"

इत्यादीनि दायभागसम्बन्धे मृताय पित्रादये पिण्डदानप्रतिपादनपराणि पूर्वोक्तानि वचांसि याज्ञवल्क्यस्मृतिस्थानि तथा—

"स एव दद्याद् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च ।
पौत्री मातामहस्तेन दद्यात्पिण्डं हरेद्धनम् ॥
मातुः प्रथमतः पिण्डं निर्वपेत्पुत्रिकासुतः ।
द्वितीयं तु पितुस्तस्यास्तृतीयं तत्पितुः पितुः ॥"

इत्यादीनि च मानवधर्मशास्त्रस्थानि वचांसि व्याहन्येरन् । अर्थादुक्तपद्येषु यो यस्तस्मै तस्मै पित्रादये पिण्डं दातुमर्हति स स तस्य तस्य दायादो भवितुमर्हति । यद्वा यद्दत्तं पिण्डं योऽवाप्नोति तस्य धनस्य स एव पिण्डदाता ग्राहको भवति ॥

अत्रेदं समाधानमुच्यते—श्राद्धविचारप्रसङ्गेऽपि किञ्चिदुक्तम्—पिण्डशब्दोऽत्र ग्रासोपलक्षकः सम्भवति। "अष्टौ पिण्डान् समश्नीयाद्विप्रो मध्यन्दिने स्थिते । श्वापिण्डदस्य कुरुते"—इत्यादि सत्प्रयुक्तपद्यादिषु पिण्डशब्दो ग्रासपर्यायः स्पष्ट एवास्ति। यथा स्त्रियो विवाहानन्तरं पाणिग्राहकसम्बन्धाद्वसनाच्छादनप्राप्तेर्भागिभ्यः सन्ति यदि कथञ्चिद्भोजनाच्छादने पाणिग्राहको न दद्यात्तदा राजा ताभ्यो दापयेत् ताश्च राजद्वारि निवेदनं कृत्वा कारयित्वा वा स्वनिर्वाहाय यथाशक्ति भोजनाच्छादने गृहीतुमर्हन्ति कुर्वन्ति चैवं काश्चित् । तथैवात्रापि यस्य यस्य तेन पित्रादिना साकं यद्यदपेक्षया सन्निकृष्टः सम्बन्धोऽस्ति तस्य तस्य साक्षात्परम्परया वा स पित्रादिः पालकः पोषकश्च जायते । येन पित्रादिना तेषां स्वसम्बन्धिनां पुत्रादीनां कथमप्युपकारः कृतस्तेषामुपरि वृद्धावस्थायां दायोऽस्ति । तदानीं ते पुत्रादयो वृद्धाः शरीरेन्द्रियादीनां शैथिल्यात्स्वस्य धनाद्युपार्जनेन

भोजनाच्छादनव्यापारेण सम्यग् रक्षां कर्त्तुं न शक्नुवन्ति । अतस्तदानीं येषामुपरि तेषां वृद्धानां रक्षणस्य भारोऽस्ति तेषां न्यायतो रक्षणाभावे ये राजतो दण्डमर्हन्ति बलात्कारेण वा राज्ञा तैः पित्रादीनां रक्षा कारयितव्याऽस्ति ते त एव तेषां तेषां पित्रादीनां दायस्य वस्तुनो भागिनो भवितुमर्हन्ति यतस्ते जीवतां वृद्धानां पिण्डदातारो भोजनाच्छादनभारभागिन आसन्। लोके समस्तो व्यवहार उपकारप्रत्युपकाराभ्यामेव जायते । येन पूर्वं कथमपि यस्योपकारः कृतस्तेनानन्तरं तस्य प्रत्युपकारः कर्त्तव्य एव । योनिसम्बन्धे चान्तरङ्गबहिरङ्गतया यावानुपकार इतरेतरं क्रियते नैव तावानन्येन कर्त्तुं शक्यते। यथा पित्रा पुत्रमुत्पाद्य तस्य रक्षादिना महानुपकारः कृतः समर्थेन च सता पुत्रेण सर्वथा मातापित्रोर्वृद्धावस्थावधि महानुपकारो रक्षादिरूपः कार्यः पुनः स एव पित्रादिभिरुपार्जितवस्तूनां तेषां मरणानन्तरमादाता भवति । यदि कथञ्चित्पिण्डोपलक्षितभोजनादिना पित्रादीनां रक्षणस्यावसरो नागच्छेत्तथापि तेषां पुत्रादीनां पिण्डदत्वं नैव दुष्यति । यतः पिण्डदानस्य तेषामुपरि भारोऽस्ति नियमश्च सार्वत्रिकस्तस्य क्वचिदप्रवृत्तौ सामान्यकथनस्य विघातो ज्ञातुमयुक्तः । यतः कारणान्नियोगोत्पन्नः सुत उत्पादकोत्पादयित्र्योरुभयोः पिण्डदाताऽस्ति तस्मात्तयोर्द्वयोरेव दायादोऽस्तीति याज्ञवल्क्यस्याशयः । द्वादशपुत्रेषु पूर्वस्य पूर्वस्याभावे परःपरः पिण्डदोंऽशहरो दायादश्च भवति । यो यस्मै पिण्डदानेऽधिकृतस्स तस्य दायाद इति न्याय्यमेव। स एव दद्याद् द्वौ पिण्डौ पित्रे मातामहाय च। अस्य मनुवचनस्यायमाशयः—यदा मातामहस्यान्यः कोऽपि पुत्र औरसो नास्ति तदा स दौहित्र एव मातामहाय वार्द्धके

पिण्डदत्वेन रक्षको भवितुमर्हति तथासति स एव तस्य दायादः स्यात्। स्वस्य पित्रे पिण्डदस्तस्य दायादश्चास्त्येवेति सिद्धानुवादः। एवमन्यानि सर्वाणि वचांस्यनेनैव सिद्धान्तेन व्यवस्थितानि भवन्ति। पिण्डशब्देन पक्वान्नमुपलक्ष्यते यतो वार्द्धके पित्रादयः स्वहस्तेन पाकादिकमपि कर्त्तुमशक्तास्तेभ्यः सिद्धमन्नं प्रीत्या स एव दद्याद्यस्तदानीमन्यापेक्षयाऽन्तरङ्गतया तेन सम्बद्धोऽस्ति। यस्योपरि भोजनाच्छादनाभ्यां रक्षणस्य पित्रादीनामशक्तदशायां भारोऽस्ति स एव तेषां देहान्तानन्तरं दायादः स्यादिति दायभागप्रसङ्गे सिद्धान्तः पक्षो मन्वादीनाम्॥

भाषार्थः—अब संक्षेप से दायभागसम्बन्धी विचार किया जाता है। इस विषय में नारदस्मृति का वचन है कि "पिता के वस्तु का पुत्र लोग जो बांट करते हैं उस को विद्वान् लोगों ने व्यवहार की व्यवस्था का हेतु होने से दायभाग कहा है" दायशब्द एक प्रकार के धनादि वस्तु का नाम है जिस पर न्यायानुकूल किसी अपने सम्बन्धी का स्वत्व (हक) हो। जिस धनादि वस्तु को न्यायपूर्वक जो ले सकता है वह उसी का दाय है और वह पुरुष उस वस्तु के स्वामी का दायाद (वारिस) कहाता है। यहां दायनामक धन केवल रुपये आदि का ही वाचक नहीं है किन्तु जो कुछ पृथिवी आदि सुखसाधन पितादि का वस्तु है वह सब दाय ही है इस प्रकार के दाय का विवेचन करके कि (किस को क्या मिलना चाहिये) विभाग करना दायभाग कहाता है। वह दाय दो प्रकार का माना जाता है—चाचा वा नाना आदि के जब कोई निज पुत्र न हो और उन का स्वयं भी शरीर छूटने पर आवे तो उन का धनादि दाय विवाद सहित होता है और पिता वा पितामह का उन के न रहने पर पुत्र वा पौत्रादि को लेने योग्य दाय निर्विवाद माना जाता है। कहीं सविवाद जिस में किसी प्रकार का झगड़ा है वह झगड़े से रहित हो जाता और जिस में झगड़ा नहीं उस में भी कहीं झगड़ा खड़ा हो जाता है इसी लिये महर्षि लोगों ने दायभाग के विवेचनार्थ धर्मशास्त्र बनाये और उस से भी बचे हुए का सामयिक न्यायालयों में राजाओं के द्वारा निर्णय होता रहता है॥

इस विषय में पूर्वपक्ष यह है कि जो लोग मरे हुए पितरों को पिण्ड देना स्वीकार नहीं करते उन के मत में "वह नियोग से उत्पन्न हुआ पुत्र अपने उत्पादक दोनों माता पिता को पिण्ड देने वाला और दोनों के धनादि का ग्राहक होता है। यहां दोनों का पृथक् से कहने का अभिप्राय यह है कि उन नियुक्त माता पिता के दो घर होते हैं जिस विधवा स्त्री का नियोग होता है वह अपने पूर्वपति के घर वा नाम को नहीं छोड़ती इस लिये नियोग से उत्पन्न हुआ सन्तान दोनों घर का धन ले सकता है। यदि नियोगकर्त्ता पुरुष का कोई औरस पुत्र हो तो नियोगज पुत्र को दाय नहीं मिले गा। तथा "बारह पुत्रों में से पूर्व २ के न रहने वा न होने पर पर पुत्र पिण्ड देने वाला होगा।" इत्यादि दायभागसम्बन्ध में मरे हुए पितादि को पिण्डदान करने का प्रतिपादन करने वाले याज्ञवल्क्यस्मृति के वाक्य तथा "नाना के कोई पुत्र न हो तो उस का और अपने पिता का दोनों का पिण्डदान करे और वही एक सन्तान दोनों अर्थात् अपने पिता का और ननशाल का धन लेवे" इत्यादि मनुस्मृति के वाक्य विरुद्ध पड़ेंगे क्योंकि जिस को पिण्ड देने का अधिकार है वही उस का दायभागी होगा। अथवा जिस का दिया पिण्ड उस पितादि को पहुंच सकता है वही २ पिण्डदाता उस २ का दायभागी हो सकता है॥

इस पर यहां समाधान दिया जाता है और श्राद्धविचार के प्रकरण में भी कुछ कहा है कि पिण्डशब्द ग्रास कौरा रोटी वा टुकड़ा का उपलक्षक है।" आठ पिण्ड—ग्रास मध्याह्न में खावे। कुत्ता पिण्डनाम कौरा देने वाले की सेवा वा उपासना करता है" इत्यादि प्रमाणों के अनुकूल पिण्डशब्द ग्रास वा कौरा का वाचक स्पष्ट ही है। जैसे स्त्रियां विवाह के पश्चात् अपने पति से भोजन वस्त्र पाने की भागिनी होती हैं। यदि कदाचित् पति भोजनादि देकर अपनी स्त्री की रक्षा न करे तो राजा को उचित है कि उस के पति से भोजन वस्त्र दिलाकर रक्षा करावे और वे स्त्री लोग भी राजदरबार में निवेदनपत्र (अर्जी) दे कर वा दिला कर अपने निर्वाह के लिये उन पुरुषों की शक्ति के अनुसार उन से भोजन वस्त्र ले सकती हैं। और कोई २ स्त्रियां ऐसा करती भी हैं। वैसे यहां भी जिस२ का उस पितादि के साथ जिस २ की अपेक्षा निकट सम्बन्ध है उस २ का साक्षात् वा परम्परा से वह पितादि रक्षक रहा वा है। जिस पितादि ने उन अपने सम्बन्धी पुत्रादि का किसी प्रकार उपकार किया है उन पुत्रादि पर वृद्धावस्था में

पितादि का रक्षा कराने का भार (हक) है। उस समय वे वृद्धपितादि शरीर और इन्द्रियों के शिथिल हो जाने से धनादि का उपार्जन कर अपने शरीर की भोजन वस्त्रादि के व्यवहार से ठीक २ रक्षा नहीं कर सकते। इस कारण उस वृद्धावस्था में जिन २ पर उन वृद्धों की रक्षा का भार है उन की न्यायानुकूल रक्षा न करने पर जो पुत्रादि राज्य की ओर से दण्ड पाने योग्य हैं। अथवा राजा बलपूर्वक जिन के द्वारा उन वृद्ध पितादि की रक्षा करा सकता है वा राजा को न्यायानुसार रक्षा करानी चाहिये वे २ पुत्रादि उन पितादि को पिण्ड-नाम भोजनादि देने के अधिकारी और उन के मरने पर दायभागी अर्थात् सब वस्तु के स्वामी होने के योग्य हैं। क्योंकि वे जीते हुए वृद्धपितादि को पिण्डनाम भोज-नाच्छादनादि देकर रक्षा करने के अधिकारी रहे। लोक में सम्पूर्ण व्यवहार परस्पर के उपकार प्रत्युपकार से ही चल रहा है जिस ने पहिले किसी प्रकार जिस का उपकार किया हो उस को पीछे उस का प्रत्युपकार अवश्य करना चा-हिये। और योनिसम्बन्ध में निकटवर्त्ती वा दूरवर्त्ती होने से जितना परस्पर उपकार किया जाता है। उतना अन्य किसी से नहीं हो सकता। जैसे पिता पुत्र को उत्पन्न कर उस का सर्वथा रक्षादि द्वारा महान् उपकार सकता है। जब पुत्र समर्थ हो तब उस को वृद्धावस्था पर्यन्त अपने माता पिता का भोजन वस्त्रादि द्वारा महान् उपकार करना चाहिये फिर वही पुत्र अपने पितादि के सञ्चित किये वस्तुओं का पितादि के मरने पर लेने वाला होता है। यदि कदाचित् किसी प्रकार पिण्डनाम भोजनादि से पितादि की रक्षा करने का अवसर वृद्धा-वस्था में भी न आवे तो भी उन पुत्रादि के पिण्डदाता होने वा कहे जाने में कोई दोष नहीं है क्योंकि अवसर होने से पिण्ड देने का भार उन पर है जिस कार्य के करने का भार जिस पर है वह चाहे किसी कारण किसी देश वा किसी काल में उस कार्य को न करे वा न कर सके तो सामान्य नियम में बाधा नहीं पड़ सकती। यदि कोई निमित्त न होता तो वह अवश्य वैसा करता। जो नियम सामान्य कर सर्वत्र के लिये होता है उस की प्रवृत्ति कहीं न होने पर सामान्यकथन की हानि समझना ठीक नहीं है। अब आगे पूर्वोक्त याज्ञवल्क्यादि के पिण्डदान-विषयक श्लोकों का अर्थ करते हैं—जिस कारण नियोग से उत्पन्न हुआ पुत्र अपने पिता माता दोनों की भोजनादि से रक्षा करने वाला है इसी से वह दोनों का दायाद है यह याज्ञवल्क्यस्मृति का आशय है। बारह पुत्रों में से पहिले २ के

में अगला २ पिण्ड देने वाला और दायभागी होता है। जो जिस को पिण्ड देने के लिये अधिकारी है वह उस के वस्तु का ग्रहण करने वाला हो यह न्यायानुकूल ही बात है। "वही दौहित्र-धेवता अपने नाना और बाप दोनों को दो पिण्ड देवे„ इस मनु के वचन का आशय यह है कि जब नाना के कोई अन्य अपना निज औरस पुत्र न हो तब वह धेवता ही नाना के लिये वृद्धावस्था में पिण्ड अर्थात् भोजनादि दे कर रक्षा करने का उद्योग करे। ऐसा होने पर वही दौहित्र उस नाना का दायाद (हकदार) होगा। अपने पिता के लिये पिण्ड देना और उस का दायाद होना तो सिद्ध को ही दिखाने रूप सिद्धानुवाद है। इसी प्रकार दायभाग में पिण्डदान की चर्चा वाले सब वाक्य इसी उक्त सिद्धान्त के अनुसार व्यवस्थित हो जाते हैं। पिण्डशब्द से पकाये हुए रोटी आदि अन्न का ग्रहण है क्योंकि वृद्धावस्था में पितादि अपने हाथ से पाकादिक भी नहीं कर सकते। यदि कोई कहे कि रसोइयादि से करा लेंगे तो उत्तर यह है कि प्रथम तो रसोइया रखना सब का काम नहीं किन्तु धनी ही रख सकते हैं और धनी भी हों तो रसोय्यादि कर्मचारियों से काम लेने और धनादि की रक्षा के लिये कोई पुरुषार्थी मनुष्य होना चाहिये किन्तु वृद्ध से सब प्रबन्ध नहीं हो सकता। इस लिये उन को बनाया हुआ भोजन प्रीतिपूर्वक वही पुरुष देवे जो उस समय पर अन्यों की अपेक्षा निकटवर्त्ती सम्बन्ध वाला हो। जिस के ऊपर भोजन वस्त्रादि देके अशक्त असमर्थ दशा में पितादि की रक्षा करने का भार है वही पिण्डदान जानो अर्थात् जिन को पितादि की वृद्धावस्था में पिण्डनाम भोजनादि देना चाहिये वे ही पुत्रादि पिण्डदाता हैं उन्हीं का पिण्ड पितादि को पहुंच सकता और पितादि का उन पर पिण्ड लेने का दायनाम हक़ है इसी कारण उन के मरणे पर वे ही पिण्डदाता पुत्रादि उन के पदार्थों के दायभागी होने चाहिये यह मनु आदि का सिद्धान्त पक्ष है ॥

अथ सापिण्डविचारः ॥

समानो वीर्यरुधिराद्यन्वयेनैकत्वमापन्नः पिण्डो देहो येषां ते सपिण्डाः। यद्वा योनिसम्बन्धसान्निध्यात्समान एकत्वमापन्नः पिण्डो ग्रासाद्युपलक्षितभोजनव्यापारो येषां ते सपिण्डाः। यस्य भोजनं येन पुत्रादिना पित्रादिना वा न्यायतः प्रापणीयं स तस्य सपिण्डो-

ऽस्ति। याज्ञवल्क्यस्मृतिसहवर्त्तिन्यां मिताक्षरायां च सापिण्ड्यनिर्णयावसर इत्थमुक्तम्—"सपिण्डता च एकशरीरावयवान्वयेन भवति। तथाहि पुत्रस्य पितृशरीरावयवान्वयेन पित्रा सह सापिण्ड्यम्। एवं पितामहादिभिरपि पितृद्वारेण तच्छरीरावयवान्वयात्। एवं मातृशरीरावयवान्वयेन मात्रा। तथा मातामहादिभिरपि मातृद्वारेण। तथा मातृष्वसृमातुलादिभिरपि एकशरीरावयवान्वयात्। तथा पितृव्यपितृष्वस्रादिभिरपि। तथा पत्या सह पत्न्या एकशरीरारम्भकतया। एवं भ्रातृभार्याणामपि परस्परमेकशरीरारब्धैः सहैकशरीरारम्भकत्वेन। एवं यत्र यत्र सपिण्डशब्दस्तत्रतत्र साक्षात्परम्परया वा एकशरीरावयवान्वयो वेदितव्यः। यद्येवं मातामहादीनामपि दशाहं शावमाशौचं सपिण्डेषु विधीयत इत्यविशेषेण प्राप्नोति। स्यादेतत् यदि तत्र प्रत्तानामित्तरे कुर्युरित्यादिविशेषवचनं न स्यात्। अतश्च सपिण्डेषु यत्र विशेषवचनं नास्ति तत्र दशाहमित्येतद्वचनमवतिष्ठते। अवश्यं चैकशरीरावयवान्वयेन सापिण्ड्यं वर्णनीयम्। आत्मा हि जज्ञे आत्मन इत्यादि श्रुतेः।" परमतमप्रतिषिद्धं स्वमतमिति हि तन्त्रयुक्तिरिति वात्स्यायनभाष्यमनुसरता मयापि मिताक्षरावर्णनमूरीकृतम्। द्वितीयश्च पक्षः पिण्डोपलक्षितभोजनं यस्य येन समानमिति मिताक्षराकारेण नाङ्गीकृतः। उभयविधमिदं सापिण्ड्यं ब्राह्मणादिवर्णमात्रे कथञ्चिन्मनुष्यमात्रे वा सम्भवतीत्यनवस्थादोषनिवारणाय योगरूढित्वमस्य शब्दस्य मनुना पञ्चमाध्याय उक्तम्—सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्त्तते। एवंविधसापिण्ड्यसिद्धान्ते सिद्धे मृतोद्दिष्टपिण्डसामान्यतया सापिण्ड्यवर्णनं निराकृतं भवतीति कथनस्याशयः॥

अथ समासेन स्त्रीदायविचारः। केचिद्धर्मशास्त्रविदो विद्वांसः स्त्रीणां दायमेव नेच्छन्ति न वदन्ति वा। इत्थमेव च पूर्वजधर्मशास्त्रकारमन्वादिमहर्षीणामपि राद्धान्तं वर्णयन्ति। तत्तु न सम्यक्। यतो मनुनैव स्पष्टमुक्तम्–

स्वेभ्योऽंशेभ्यस्तु कन्याभ्यः प्रदद्युर्भ्रातरः पृथक्।
स्वात्स्वादंशाच्चतुर्भागं पतिताः स्युरदित्सवः॥

अत्र मेधातिथ्यादयो भाष्यकाराः कन्याशब्देनानूढानामेव ग्रहणं कृत्वा तासामुद्वाहसंस्कारार्थं भ्रातृभिर्दातव्यमिति वर्णयन्ति। यदि पितुर्मरणात्पूर्वमेव कन्यानामुद्वाहः स्यात्तदा न दातव्यमिति तदाशयः। इत्थमेव च याज्ञवल्क्यस्मृतौ मूले मिताक्षरायां च वर्णितम्। तदेव दृष्ट्वार्वाचीनभाष्यकारैरप्युक्तमित्यनुमीयते। यद्ययमेव सिद्धान्तस्तदा भार्याया अर्द्धाङ्गित्वं विरुध्यते। मूले च किमपि पदं तादृशं नास्ति येनानूढानामुद्वाहार्थं चतुर्थभागकल्पना सम्भाव्येत। अन्यदपि मनुनोक्तं नवमेऽध्याये–

पौत्रदौहित्रयोर्लोके न विशेषोऽस्ति धर्मतः।
तयोर्हि मातापितरौ सम्भूतौ तस्य देहतः॥

अत्र धर्मत इति पदं पुत्रदुहित्रोर्भेदं निराकरोति। एतत्कथनेनानुमीयते पूर्वमपि केचिद्भेदं ज्ञातवन्त इति। लोकेऽपि सामान्यतया मातापितरौ पुत्रं दुहितरं च तुल्यप्रीत्यैव पश्यन्ति। चतुर्थभागमिति वैषम्येन न्यूनांशकल्पना तु पाणिग्राहधनस्यापि कथञ्चित्स्वाम्यं तासां भवतीति मनसिकृत्य कृता तत्तूचितमेवास्ति। यदि कुत्राप्यंशे पुरुषापेक्षया स्त्रीणां पारतन्त्र्यमप्राधान्यं वास्ति तर्हि पुरुषस्यापि कुत्रचिदप्राधान्यं भवितुं युज्यते। यथा ब्राह्मणापेक्षया क्षत्रियस्य

कथमप्यप्राधान्यमस्ति तथैव कुत्रचिदंशे क्षत्रियापेक्षया ब्राह्मणस्याप्यप्राधान्यमस्ति तादृशप्राधान्याऽप्राधान्याभ्यां स्त्रीणां दायनिषेधः कर्त्तुमशक्यः। पुरुषापेक्षया कथञ्चित्स्त्रीणामप्राधान्यमूरीकृत्य दायस्य पुत्रापेक्षया न्यूनत्वं सम्भवति। कन्याः पित्रोः सेवावसरे वार्द्धक्ये पत्युर्वेश्मनि तिष्ठन्ति तत्रत्यानि च कार्याण्यालोचयन्तीति मत्वा तदप्राधान्यमभिमतम्। पुत्रास्तु सुशिक्षिताः सन्तो नैरन्तर्येण पित्रोर्वेश्म शोभयन्तस्तयोरेव सेवामहर्निशं विदधति। पुत्राभ्यां पितुर्नाम गोत्रं च परम्परया प्रवर्त्तते कन्याश्चान्यगोत्रे मिलित्वा पत्युः श्वशुरस्य च नाम्नः प्रवृत्तिहेतवो भवन्ति। अनेन तासामपत्यत्वं दायश्च सर्वथा न स्यादिति धर्मविरुद्धम्। येन मार्गेण यादृशक्रियया श्रमेण च पुत्रा उत्पाद्यन्ते पाल्यन्ते च तादृश एव कन्यानामपि मार्गोऽस्ति पुनः सर्वथा स्वत्वनिवारणे को हेतुः?। यदि कन्यानां मातापित्रोर्धनादौ स्वत्वं न स्यात्तदा मात्रादीनामपि हार्दिकी प्रीतिर्न स्यात्तत्तु न दृश्यते। यदा पुत्रदुहित्रोः समा प्रीतिरस्ति पुनरिदमेव पित्रोर्धने द्वयोः स्वत्वं सूचयति। यच्च मेधातिथ्यादिभिः कन्याशब्दस्यानूढापरत्वमुक्तं तत्सर्वसाधारणापेक्षया तथास्तु। मातापित्रोरपेक्षया भ्रात्रपेक्षया वा तासां सदैव कन्यात्वमस्ति तथैव च ते सदा व्यवहरन्ति। यथा पलितशिरस्कमपि स्वापत्यं पिता बालपुत्रवत्सादिशब्दैरेवाह्वयति तथैव कृतोद्वाहामपि पितरौ कन्याशब्देनैव व्यवहरतः। अतः कन्याशब्देन तत्रानूढानां ग्रहणं न कार्यमपितूभयविधानां ग्रहणमुचितम्। यत्रैका कन्या बहवश्च भ्रातरस्तत्र भ्रातृभिः समानंशान्प्रकल्प्य स्वात्स्वादंशाच्चतुर्थं चतुर्थं भागं सर्वे तस्यै दद्युः। यत्र चैको भ्राता बह्व्यश्च भगिन्यस्तत्र सर्वमूलधनाच्चतुर्थभागमादाय सर्वाभ्यः

समानंशान्दद्यात् । एवमन्यत्रापि संयोज्यं विस्तरस्तु भाष्ये द्रष्टव्यः । अनेन सिद्धं पितुर्धने कन्यानामपि दायोऽस्ति । तस्मात्ताभ्योऽपि यथोचितो भागो दातव्य इति मानवः सिद्धान्तः संक्षेपेणोक्तः ॥

भाषार्थः—अब सापिण्ड्य शब्द पर कुछ विचार किया जाता है । समान और पिण्डशब्द को मिला कर सपिण्डशब्द बनता और उस से भावकर्म अर्थ में ष्यञ् प्रत्यय होकर सापिण्ड्य सिद्ध होता है। वीर्य रुधिरादि की परम्परा से जिन का पिण्डनाम देह एकता को प्राप्त है वे मनुष्य परस्पर सपिण्ड कहाते हैं। अथवा इस शब्द का द्वितीय अर्थ यह भी हो सकता है कि योनिसम्बन्ध की समीपता से पिण्डनाम ग्रासोपलक्षित भोजन व्यापार जिन का एक है जिन को सब प्रकार का भोजन परस्पर मिल कर करने में किसी प्रकार की घृणा नहीं उन को भी सपिण्ड कह सकते हैं । जिन पुत्रादि वा जिन पितादि को जिन अपने सम्बन्धी आदि का भोजन न्यायपूर्वक करना चाहिये वे उन के सपिण्डी कहे वा माने जाते हैं। इस सिद्धान्त पर जो अतिव्याप्ति दोष आ सकता है उस की निवृत्ति आगे की गई है। याज्ञवल्क्यस्मृति पर जो मिताक्षरा टीका है उस में सपिण्डता के विचार प्रसङ्ग पर इस प्रकार लिखा है कि—"सपिण्डता भी एक शरीर का अंश परम्परा से अनेकों में जाने से होती है जैसे पिता के शरीर का अंश पुत्र में आने से पिता के साथ पुत्र की सपिण्डता है इसी प्रकार पिता में पितामह के शरीर का अंश होने से पिता के द्वारा पौत्र की पितामह (दादा) के साथ सपिण्डता है । इसी प्रकार माता के शरीर का अंश पुत्र में आने से माता के साथ पुत्र की सपिण्डता तथा माता के द्वारा नाना आदि के साथ भी सपिण्डता है । और मौसी वा मामा आदि के साथ भी माता के द्वारा सपिण्डता है क्योंकि जिन के शरीर से माता का शरीर बना उन्हीं से मामा वा मौसी का भी बना है इस कारण वे भी सपिण्ड हैं तथा चाचा और बुआ आदि के साथ भी पिता पितामह के द्वारा सपिण्डता मिलती है । और स्त्री पुरुष दोनों से एक पुत्रादि का शरीर बनता है इस लिये पुत्रादि द्वारा स्त्री पुत्र की सपिण्डता है। और द्योरानी जिठानी आदि आपस में एक श्वशुर के शरीर से बने पतियों के साथ मिल के एक२ पुत्रादि के शरीर का कारण होने से सपिण्डता है । इसी प्रकार जहां२ सपिण्ड शब्द की प्रवृत्ति है वहां२ साक्षात् वा परम्परा

से शरीरांश मिलने का विचार जानना चाहिये। यदि ऐसा होने पर जो मनु आदि धर्मशास्त्रों में सपिण्ड वालों को दश दिन की मृतक अशुद्धि मानना लिखा है सो नाना आदि को भी सामान्य कर प्राप्त होगी। इस का समाधान यह है कि "जो कन्या पतिकुल में चली गईं उन के पुत्रादि सम्बन्धी आशौच उसी कुल वालों को होगा" इत्यादि विशेष विचार न हो तो नानादि को भी आशौच लग सकता है। यह सपिण्डसम्बन्धी विचार शरीरांश के मेल से अवश्य मानना चाहिये क्योंकि पिता का स्वरूप ही पुत्र उत्पन्न होता है यह वेद का सिद्धान्त है" न्यायसूत्र पर वात्स्यायन भाष्य में लिखा है कि "अन्य का विचार अपने अनुकूल हो तो वह अपना सिद्धान्त जानो यह शास्त्रकारों की युक्ति वा शैली है" इसी के अनुसार हम ने भी मिताक्षरा का वर्णन यहां अपने सिद्धान्त पक्ष में रक्खा है। दूसरा पक्ष जो भोजन की एकता से सपिण्डता मानी है इस को मिताक्षराकार ने नहीं माना। इस दोनों प्रकार की सपिण्डता का ब्राह्मणादि वर्णमात्र में वा मनुष्यमात्र में लक्षण चला जाने से अतिव्याप्ति दोष आ जावेगा क्योंकि शरीर के अंश की एकता मिलाने लगें तो उस की उस से उस की उस से मिलते २ सब की एकता सब के साथ परम्परा से मिल सकती है [सम्बन्धी का सम्बन्ध-नाते का नाता खोजते २ अवधि मिलना दुस्तर है यह अनवस्थापत्ति दोष कहाता है] इसी प्रकार भोजन की परम्परा भी एक से दूसरे की और दूसरे से तीसरे की मिलते २ सब के साथ सब की सपिण्डता प्राप्त होगी। इस अनवस्था दोष को हटाने के लिये मनु जी ने पञ्चमाध्याय में इस शब्द को योगरूढ लाक्षणिक अर्थ से ठहराया है कि "सप्तम पीढी में सपिण्डता समाप्त हो जाती है"। अर्थात् जिन २ की जिन २ के साथ सपिण्डता मानी गयी है उन २ की सात पीढी के अन्तर्गत ही रहेगी। इस प्रकार जब सपिण्डता का सिद्धान्त ठीक सिद्ध हो गया तो मरे हुए को पिण्ड देने की रीति से सपिण्डता के मानने वा कहने की शङ्का दूर हो जाती है यह सपिण्डता के वर्णन का आशय है॥

अब संक्षेप से स्त्री के दाय का विचार किया जाता है। कोई २ धर्मशास्त्र के ज्ञाता स्त्रियों का दाय नहीं मानते वा चाहते। और ऐसा ही पूर्वजधर्मशास्त्रकार मनु आदि महर्षियों का सिद्धान्त भी कहते वा मानते हैं सो ठीक नहीं है। क्योंकि मनु ने ही नवमाध्याय के दायभागप्रकरण में स्पष्ट कहा है कि—"भाई लोग अपने २ अंशों में से कन्याओं के लिये चौथा २ भाग पृथक् २ देवें

और यदि कन्याओं अर्थात् पिता के धन में से भगिनियों को भाग न देवें तो शास्त्र की आज्ञानुसार वे पतित मानने चाहिये "। इस सीधे अर्थ को मेधातिथ्यादि भाष्यकारों ने झमेला में डाल दिया है कि विवाह न होने से पूर्व ही कन्या शब्द से ग्रहण करके उन कन्याओं के विवाहसंस्कार के लिये भाइयों को अपने अंश से चतुर्थांश देना चाहिये ऐसा वर्णन करते हैं। और इसी से यह भी आशय निकल सकता है कि यदि पिता के मरने से पूर्व ही कन्याओं का विवाह हो जावे तो पीछे बांट होने पर नहीं देना चाहिये। पर मनु जी का यह आशय होता तो चौथा भाग देना नहीं लिखते किन्तु स्पष्ट यह लिख देते कि कन्याओं का विवाह करने से पहिले पिता मर जावे तो रियासत वा धन में से कन्याओं के विवाह को यथोचित धन पृथक् निकाल कर पीछे भाई लोग बांट करें। क्योंकि वैसा लिखने में अनेक दोष आवेंगे। जहां कुछ रुपया पैसारूप धन इकट्ठा हो उस में से तो कन्याओं के लिये विवाहार्थ देना बन सकता है। मान लीजिये कि कदाचित् पिता के समय की कुछ सम्पत्ति नहीं और वह छोटी २ कन्या छोड़ कर मर गया तो क्या भाइयों पर अपने पैदा किये धन से विवाह करने का भार धर्मशास्त्र की आज्ञा के अनुसार नहीं होना चाहिये ?। द्वितीय यदि पिता के मरने बाद हजार गांवरूप सम्पत्ति राज्य हो और उस का एक ही पुत्र अधिष्ठाता हो तो क्या २५० ग्राम की जिमीदारी कन्या के विवाहार्थ दी जावे ?। जब इन लोगों को कन्याओं के लिये भाग दिलाना ही अभीष्ट नहीं फिर जमीदारी उन के नाम कैसे इष्ट हो सकती है और २५० वा ५०० ग्राम का मूल्य विवाह में व्यय भी नहीं हो सकता यदि कुछ कन्या को दे दिया जावे तो वह विवाह के व्यय में नहीं समझा जावेगा। तात्पर्य यह है कि यदि विवाहमात्र का प्रबन्ध भाई लोग कर दें यही आशय धर्मशास्त्र का होता तो चौथा भाग कन्याओं को देना नहीं कहते क्योंकि कहीं तो चौथे भाग से [एक दो रुपया हो तो] विवाह हो नहीं सकता और कहीं चौथा भाग इतना हो सकता है जिस से सहस्त्रों विवाह हो जावें। इस लिये मेधातिथ्यादि भाष्यकारों की कल्पना ठीक नहीं है। और यह कल्पना केवल मेधातिथि आदि की ही नहीं है किन्तु मूल याज्ञवल्क्यस्मृति और मिताक्षरा टीका में भी ऐसा ही वर्णन किया है अनुमान होता है कि उन्हीं को देख कर इन नवीन भाष्यकारों ने भी वैसा माना होगा। यदि इस सिद्धान्त को मानें तो स्त्री को अर्द्धाङ्गी मानना विरुद्ध

पड़ता है क्योंकि अर्द्धाङ्गी मानने का मुख्य प्रयोजन यही है कि सर्वत्र जड़ वा चेतन में आधा भाग स्त्री का और आधा पुरुष का है। मनुष्य के शरीर में विचारदृष्टि से देखें तो स्त्री का भाग अधिक और पुरुष का कम है क्योंकि गर्भाधान के दिन पुरुष का थोड़ासा अंश पड़ता और पीछे सब गर्भ का शरीर स्त्री के शरीर से बनता वा बढ़ता और नवमास के पश्चात् भी जब तक माता का दूध पीता है तब तक माता से ही वालक बढ़ता है इस लिये माता का भाग पुत्र के शरीर में अधिक है इसी कारण पिता की अपेक्षा सहस्र गुणी सेवा सन्तान को माता की करनी चाहिये यह धर्मशास्त्रकारों की आज्ञा है। इसी लिये पुत्र पर माता का अधिक बल वा दाय होना चाहिये। यदि वृद्धावस्था में कन्या पुत्र माता की ठीक२ सेवा शुश्रूषा न करें तो राजद्वार से बलात्कार पुत्रों की कमाई में से माता लेसकती है [इसी स्त्री की प्रधानतारूप मूलपक्ष को लेकर कभी शाक्तमत चला हो ऐसा अनुमान होता है] इस के अनुसार स्त्री का अर्द्धभाग से भी अधिक होना चाहिये सो उस को पिता के धन में से कुछ न देना अन्याय क्यों नहीं हुआ ?। और मूल श्लोक में वैसा कोई पद नहीं है जिस से अविवाहित कन्याओं के विवाहसंस्कारार्थ चौथे भाग की कल्पना समझी जावे। तथा नववें अध्याय में मनु जी ने कहा है कि "पुत्र के पुत्र और पुत्री के पुत्र में धर्म से देखा जाय तो कुछ भी न्यूनाधिकता नहीं है क्योंकि पौत्रनाम पोते का पिता और दौहित्रनाम धेवते की माता ये दोनों उसी पुरुष के शरीर से उत्पन्न हुए हैं" इस का अभिप्राय यह है कि जब कन्या और पुत्र दोनों में किसी प्रकार का भेद नहीं है तभी उन के सन्तान भी बराबर के अधिकारी हो सकते हैं। इस श्लोक में धर्मतः पद कहने का अभिप्राय यह है कि पुत्र कन्या बराबर के अधिकारी हैं। इस कथन से अनुमान होता है कि पहिले भी कोई लोग कन्या पुत्र में भेद मानते थे सो यथोचित भेद मानना तो ठीक ही है। लोक में भी सामान्य कर माता पिता पुत्र और कन्या को एकसी प्रीति से देखते हैं। और कन्या को जो भाइयों की अपेक्षा चतुर्थांश कम भाग देना लिखा इस का अभिप्राय यह है कि कन्या को पति के धन पर भी किसी प्रकार का अधिकार होगा और पति के धन का ही प्रायः भोग करेगी यह तो उस को केवल अपना स्वत्व रखने तथा आपत्काल में निर्वाह के लिये दिया जाता है। विवाह कर देने का तो पिता वा पिता के पीछे भाइयों पर सर्वथा भार है ही। तथा पूर्वकाल वा

शास्त्र के विचारानुसार विवाह कर देने में धन का तो कुछ व्यय होता भी नहीं जिस के लिये चौथा भाग देने की आज्ञा दी जाती। और यदि किसी अंश में पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों की पराधीनता वा न्यूनता है तो स्त्री की अपेक्षा किसी अंश में पुरुष की भी प्रधानता हो सकती है। जैसे ब्राह्मण की अपेक्षा क्षत्रिय को किसी प्रकार अप्रधानता है वैसे किसी अंश में क्षत्रिय की अपेक्षा ब्राह्मण की भी अप्रधानता हो सकती है। ऐसी प्रधानता वा अप्रधानता से स्त्रियों के दाय का निषेध नहीं कर सकते किन्तु पुरुष की अपेक्षा किसी प्रकार स्त्रियों की अप्रधानता मान के पुत्र की अपेक्षा कम धनांश दिया जाय यह हो सकता है। सो यह न्यूनता कन्याओं में इस लिये मानी गयी है कि वृद्धावस्था में जब कि पिता माता की सेवा का समय आता है तब कन्या अपने पति के घर में होती और वहीं के कामों को सम्हालतीं हैं और पुत्र तो अच्छी शिक्षा पाकर निरन्तर पिता के घर को सुशोभित करते हुए दिन रात वृद्धावस्था में माता पिता की सेवा में तत्पर रहते वा रह सकते हैं। पुत्रों से पिता का नाम और गोत्र भी बराबर आगे को चलता है तथा कन्या अन्य पति के गोत्र में मिल के सन्तानोत्पत्ति द्वारा अपने पति और श्वशुर का नाम चलाने वाली होती हैं इस कारण से पुत्रों की प्रधानता और कन्याओं की कुछ न्यूनता वा अप्रधानता मानी जाती है पर इस से उन कन्याओं का सन्तानपन और दाय का छूट जाना नहीं हो सकता और ऐसा किया जाय तो धर्म से विरुद्ध है। जिस मार्ग से वा जैसी क्रिया और श्रम से पुत्रों की उत्पत्ति की जाती वा पालनपोषण होता है वैसा ही सब कन्याओं की उत्पत्ति में भी करने पड़ता है फिर पुत्रों का स्वत्व रहे और पिता के धन में कन्याओं का भाग न रहे इस में क्या कारण है? यदि माता पिता के धनादि में कन्याओं का स्वत्व न हो तो मातादि की भी हृदय से उन पर प्रीति न होनी चाहिये सो ऐसा नहीं दीखता पुत्रों के तुल्य कन्याओं पर भी प्रीति का होना ही उन के दाय का सूचक है और जो मेधातिथि आदि भाष्यकारों ने कन्याशब्द से कुमारी का ग्रहण किया है सो सर्वसाधारण मनुष्यों की अपेक्षा वे कन्या न समझी जावें यह हो सकता है परन्तु माता पिता और भाइयों की अपेक्षा तो उन में सदा कन्यापन ही रहता है और वे लोग कन्या बेटी छोरी आदि शब्दों से ही सदा व्यवहार करते वा बुलाते हैं। जैसे श्वेत बाल हो जाने पर भी पिता अपने पुत्रों को बालक पुत्र वा वत्सादि शब्दों से ही बुलाता है वैसे ही विवाही

हुई कन्याओं को भी माता पिता कन्याशब्द से ही व्यवहार करते हैं। इस कारण कन्याशब्द से उक्त मनुस्मृति के श्लोक में कुआरियों का ग्रहण नहीं करना चाहिये किन्तु विवाहित अविवाहित दोनों का ग्रहण समझना चाहिये। जहां एक कन्या और बहुत भाई हों वहां पिता के मरने पर सब भाई लोग बराबर अपने हिस्से करके अपने २ अंश से चौथे २ भाग को उस भगिनी के लिये देवें और जहां एक भाई तथा बहुत बहिनें हों वहां सब मूल धन से चतुर्थांश लेकर सब के लिये बराबर भाग कर देवे। इसी प्रकार अन्यत्र भी लगा लेना चाहिये इस का विस्तार भाष्य में देखना चाहिये। इस से सिद्ध हो गया कि पिता के धन में कन्याओं का भी दाय (हक़) है इस लिये उन को भी यथोचित भाग देना चाहिये यह संक्षेप से मनु का सिद्धान्त कहा गया है॥

अथ नवमाध्यायप्रक्षिप्तविचारः॥

प्रथमं त्रयोविंशं चतुर्विंशं च पद्यद्वयं प्रक्षिप्तमस्ति। द्वाविंशपद्ये सिद्धानुवादतया पत्युरुत्कृष्टापकृष्टगुणाधिक्याद्भार्याया अपि तादृशमेवोत्कृष्टापकृष्टगुणाधिक्यं सम्भवति। तदेतत्प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणः संसर्गतो जायत इत्यस्यैव सङ्गतिजन्यफलस्य व्याख्यानरूपं कथनमस्ति। एतस्योदाहरणद्वयं तस्मिन्पद्यद्वये वर्णितम्। तत्र चोदाहरणस्यापेक्षैव न दृश्यते। कथञ्चिदपेक्षा स्यात्तथापि तादृशार्वाचीनानां स्त्रीणां ततोऽधिकतरप्राचीने मानवधर्मशास्त्रे कथं वर्णनं सङ्घटेत? न कथमपीति। नहि पितुर्जन्मसमये पुत्रकृत्यानां कोऽपि वर्णनं कर्त्तुं शक्नोति। यदा वसिष्ठेनाक्षमाला मन्दपालेन शारङ्गी च भार्यात्वेनाभ्युपगता ततः पूर्वमेवेदं शास्त्रं भृगुणा प्रोक्तम्। तथाऽक्षमाला चाण्डालीति कैश्चिद्भाष्यकारैरुच्यते। अधमयोनिजानां भार्याणां शिष्टसंयुक्तानां यद्युत्कृष्टत्वं स्यात्तदा धर्मशास्त्रे शूद्रयाऽन्त्यजया वा सार्द्धं विवाहेन महदनिष्टफलं प्रदर्शितम्—

हीनजातिस्त्रियं मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः ।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शूद्रताम् ॥
शूद्रा वेदीपतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च ।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥

इत्यादिकथनं विरुध्यते। यद्युत्कृष्टार्थमेतत्कथनं न स्यात्तदापकृष्टाः स्वतएव निकृष्टास्तेषां शूद्रया सार्द्धं विवाहेऽपि नास्त्यनिष्टम् । अतः संसर्गजगुणदोषाणां जातिव्यत्यये तात्पर्यं नास्ति किन्तु समानजातौ यापकृष्टगुणवती भर्त्तुरपेक्षया स्यात्सा विद्याशिक्षाद्युत्कृष्टगुणवती शान्तिशीला भवितुमर्हति । न च वसिष्ठसदृशो वेदादिधर्मशास्त्रवित्तपस्वी चाण्डाल्या साकमुद्वाहं कुर्यादिति कोऽपि प्रेक्षावान् विश्वासं करिष्यति । तथा मन्दपालेन केनचिदृषिणा शारङ्ग्या चटकया साकं विवाहः कृतः । शारङ्गी काचिच्चटकास्ति । विवाहस्ययत्फलं प्रयोजनं वा तच्चटकया कथं निष्पन्नमिति स एव पद्यप्रक्षेप्ता प्रष्टव्यो धीमद्भिः किं बहुनात्र प्रलापेन । उक्तप्रकारकबहुदूषणानां सत्त्वात्प्रक्षिप्तं तत्पद्यद्वयम् ॥

अग्रे पञ्चषष्टितमपद्यादारभ्याष्टषष्टितमपद्यावधि चत्वारि पद्यानि स्पष्टं प्रक्षिप्तानि। कश्चिद्यदि चतुष्षष्टिपद्याग्रे मध्यस्थानि चतुःपद्यानि त्यक्त्वोनसप्ततितमं पद्यं पठेत्तदा नास्ति कथमपि प्रकरणविरोधः। सङ्गतिश्च तेषु सत्स्वसत्सु वा समानैवास्ति तस्मात्कारणात्तानि पद्यानि प्रक्षिप्तानि वेद्यानि । यथा क्रमेण व्यवस्थितमालामध्यादेकमपि विद्रुमं कोपि निस्सारयेत्तदापि सर्वे मालावयवाः परस्परमसम्बद्धास्सङ्गतिरहिताश्च भविष्यन्ति । तथाऽत्रापि स्यात् तत्तु नास्ति तस्मात्प्रक्षिप्तानि । नियोगस्य निषेधकपद्येषु सर्वज्ञना-

रायणभाष्यकृतोक्तम्–"एवमेतत्सर्वमृष्यन्तरमतमुक्त्वा स्वमतमाह नेति" तच्च नास्ति सम्यक्—यदा प्रतिज्ञातमतः परं प्रवक्ष्यामि योषितां धर्ममापदीति तदाऽनेन स्पष्टं मनोरेवापदर्थः सिद्धान्त आगतः स च वेदानुकूल इति स्पष्टम्। वेदे च स्पष्टमेव नियोगकरणायाज्ञा दत्ताऽस्ति–यथा–

उदीर्ष्वनार्यभिजीवलोकं गतासुमेतमुपशेष एहि। हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसम्बभूथ॥ ऋ० १०।१८।८

अत्र पत्यन्तरविधायके मन्त्रेऽर्थस्यापि विवादो नास्ति। हे नारि त्वं गतासुं मृतमेतं पतिमुपशेषे तस्य समीपे शोकेन पतितासि तं विहायाभिजीवलोकं जीवन्तं प्राणिसमूहमभिमुखीकृत्योदीर्ष्वोत्तिष्ठ। उत्थाय च तव हस्तग्राभस्य पाणिग्रहणकर्तुर्दिधिषोर्द्वितीयस्य पत्युरिदं जनित्वं जायात्वं स्त्रीभावमभिसम्बभूथ। अस्य मन्त्रस्यायमेवार्थः सायणादिवेदभाष्यकारैरप्यभ्युपगतः। तथा मेधातिथिना भाष्यकारेणापि लिखितम्–"को वा स पुत्रो विधवेव देवरं मयानुदोषा कृणुते सधस्थ आ इत्यादि" एवम्प्रकारका मन्त्रा नियोगविधायका वेदेष्वपि दृश्यन्त इति मेधातिथेस्तात्पर्यम्। उदीर्ष्वेत्यादिका मन्त्राश्च मेधातिथिना पाणिग्रहणसंस्कारस्याभिधायका एवाभ्युपगताः। तच्च नास्ति ग्राह्यम्। वेदेषु यदा नियोगस्य कर्त्तव्यत्वमुक्तं पुनस्तस्य निन्दका वेदविरोधिन इति स्पष्टमेव सिद्धम्। वेनस्य राज्ञः समयान्नियोगस्य प्रवृत्तिदर्शनेन निषेधकस्य स्पष्ट एवाशयोऽस्ति यद्वेदोक्तो नियोगो नास्ति वेदोक्तस्य पुरातनत्वं सनातनत्वं च